

**“*Atthapāhuda*”**

By Ācārya Kundkunda

Pandit Nathuram Premi Research Series Volume 6

Hindi translation by Dr. Jaykumar Jalaj

Edited by Manish Modi

Mumbai: Hindi Granth Karyalay, 2006

ISBN 81-88769-15-0 (pb) EAN 9788188769155

**HINDI GRANTH KARYALAY**

Publishers Since 1912

9 Hirabaug CP Tank

Mumbai 400004 INDIA

Phones: + 91 (022) 2382 6739, 2062 2600, 6554 2281

Email: [manishymodi@gmail.com](mailto:manishymodi@gmail.com)

Web: [www.hindibooks.8m.com](http://www.hindibooks.8m.com)

Blog: <http://hindigranthkaryalay.blogspot.com>

Yahoo group: <http://groups.yahoo.com/group/Hindibooks>

Yahoo group: <http://groups.yahoo.com/group/JainandIndology>

First Edition: 2006

© Hindi Granth Karyalay

Price: Rs. 100/-

Printed in India by Trimurti Printers, Mumbai

ॐ

पण्डित नाथूराम प्रेमी रिसर्च सिरीज़ वॉल्यूम ६

आचार्य कुन्दकुन्द कृत

# अद्वपाहुड

(अष्टप्राभृतम्)

हिन्दी अनुवाद

डॉ. जयकुमार जलज

सम्पादन

मनीष मोदी

हिन्दी ग्रन्थ कार्यालय

मुम्बई, २००६

## प्रकाशकीय

तीर्थकर भगवान् महावीर और गौतम गणधर के बाद आचार्य कुन्दकुन्द जैन परम्परा के प्रतिष्ठित आचार्य हैं। तत्त्वार्थसूत्र के यशस्वी रचनाकार आचार्य उमास्वामी भी आचार्य कुन्दकुन्द के ही शिष्य थे। यह तथ्य उनके महत्त्व और ऊँचे स्थान को प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है। दक्षिण भारत में जन्मे आचार्य कुन्दकुन्द को इतिहास ने दोहरी जिम्मेवारी सौंपी थी। एक ओर जहाँ उन्हें श्रमण भगवान् महावीर के दर्शन को बेहद सरल और मार्मिक रूप में प्रस्तुत करके उसे जन जन तक पहुँचाना था वहीं दूसरी ओर इससे भिन्न स्वभाव की भूमिका का निर्वाह करते हुए चतुर्विध जैन संघ के बिखराव को रोकना था।

पहले दायित्व के निर्वाह ने जहाँ उन्हें कवि और दार्शनिक के रूप में प्रतिष्ठापित किया वहीं दूसरे के निर्वाह ने उन्हें एक सफल और कठोर प्रशासक के रूप में प्रतिष्ठा दी। पहले का चरम प्रतिफलन समयसार के सृजनरूप में और दूसरे का अट्टपाहुड (जिसे प्रायः अष्टपाहुड कहा जाता है) की रचना के रूप में हुआ।

अपनी इस सृजनशीलता के लिए आचार्य कुन्दकुन्द ने जिस भाषा माध्यम को चुना वह जन जन की भाषा शौरसेनी प्राकृत थी। इस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द कथ्य और प्रतिपाद्य के मामले में भगवान् महावीर के सच्चे अनुयायी सिद्ध हुए। ऐसी भाषा में रची गई कृतियों के अनुवाद के साथ केवल समकालीनता में रची बसी एक सहज प्रवाहपूर्ण और जनग्राह्य भाषा ही न्याय कर सकती है। खुशी है कि प्रस्तुत अनुवाद में भाषा के स्तर पर भी यह न्याय हुआ है।

अट्टपाहुड का यह अनुवाद संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश जैसी भाषाओं में गुम्फित आचार्यों की रचनाओं की भाषागत दूरी को ख़त्म करके उन्हें मात्र शिरोधार्यता का ही नहीं स्वाध्याय का भी सुलभ विषय बनाने के हमारे शृंखलाबद्ध प्रयत्न की ही विनम्र कड़ी है।

हिन्दी ग्रन्थ कार्यालय के लिए रत्नकरण्ड श्रावकाचार, समाधितन्त्र, परम्परयासु, योगसार और प्रभाचन्द्रकृत तत्त्वार्थसूत्र की तरह ही आचार्य कुन्दकुन्द कृत अट्टपाहुड (अष्टप्राभृतम्) का हिन्दी अनुवाद भी हमारे विशेष अनुरोध पर ख्यात साहित्यकार डॉ. जयकुमार जलज ने किया है, मध्य प्रदेश शासन द्वारा प्रकाशित जिनकी पुस्तक भगवान् महावीर का बुनियादी चिन्तन अपने प्रकाशन के चार साल के भीतर ही तेरह संस्करणों

और अनेक भाषाओं में अपने अनुवादों तथा उनके भी संस्करणों के साथ पाठकों का कण्ठहार बनी हुई है।

आचार्य कुन्दकुन्द कृत अष्टपाहुड का डॉ. जयकुमार जलज कृत यह अनुवाद भी उनके अन्य अनुवादों की तरह ही मूल रचना का अनुगामी है। इसमें कहीं भी अपने पाण्डित्य का हौआ खड़ा करने की प्रवृत्ति नहीं है। इसकी भाषा शब्द प्रयोग के स्तर पर ही नहीं, वाक्य संरचना के स्तर पर भी बेहद सहज और ग्राह्य है। गैरज़रूरी से परहेज़ इसका ध्येय वाक्य है। इसलिए अनुवाद में एक ऐसी भाषा का इस्तेमाल है जैसी संस्कृत अथवा मध्ययुगीन भारतीय आर्य भाषाओं के हिन्दी अनुवादों में साधारणतः प्रयुक्त नहीं होती।

यह अनुवाद आतंकित किये बिना सिर्फ़ वहीं तक साथ चलता है जहाँ तक ज़रूरी है, और फिर भगवान् महावीर के सिद्धान्तों को बेहद सरल रूप में प्रस्तुत करते हुए चतुर्विध संघ के ख़ास तौर पर साधु परमेष्ठी के आचरण को अपने स्नेहिल, प्रेरणात्मक लेकिन दृढ़ निर्देशों से निरन्तर अनुशासित रखनेवाले इस कालजयी ग्रन्थ का सहज सान्निध्य पाठक को सौंपता हुआ नेपथ्य में चला जाता है।

यशोधर मोदी

**परम पूज्य वात्सल्य दिवाकर आचार्य श्री पुष्पदन्तसागरजी महाराज**

**के प्रियाश्रि शिष्य**

**प्रखर वक्ता कवि हृदय परम पूज्य मुनि श्री पुलकसागरजी महाराज**

एवं

**परम पूज्य मुनि श्री प्राप्तिसागरजी महाराज**

के पावन वष्टयोग २००६ पर आयोजित

**अद्विष्ट ग्रन्थ की बांचना**

के उपलक्ष्य में

**समर्पित यह कृति**

उन भव्य जीवों के लिए

जो आत्म कल्याण कर

लक्ष्य को प्राप्त करना चाहते हैं।

**चातुर्मास स्थल एवं आयोजक :-**

**श्री पार्श्वनाथस्वामी दिग्म्बर जैन देहरासर**

**श्री पार्श्वनाथस्वामी दिग्म्बर जैन देहरासर ट्रस्ट**

गुलालवाड़ी, कीका स्ट्रीट, मुम्बई-४०० ००२

# अनुक्रमणिका

दंसणपाहुड	.....	११
(दर्शनप्राभृतम्)		
सुत्तपाहुड	.....	२०
(सूत्रप्राभृतम्)		
चारित्तपाहुड	.....	२७
(चारित्रप्राभृतम्)		
बोहिपाहुड	.....	३८
(बोधप्राभृतम्)		
भावपाहुड	.....	५२
(भावप्राभृतम्)		
मोक्खपाहुड	.....	६९
(मोक्षप्राभृतम्)		
लिंगपाहुड	.....	११६
(लिङ्गप्राभृतम्)		
सीलपाहुड	.....	१२१
(शीलप्राभृतम्)		
विशेष शब्द	.....	१३०
 गाथानुक्रमणिका	 .....	 १३६

# अद्वपाहुड

(अष्टप्राभृतम्)

- आचार्य कुन्दकुन्द

## दंसणपाहुड

(दर्शनप्राभृतम्)

काऊण णमुक्कारं जिणवरवसहस्स वइढमाणस्स ।

दंसणमगं वोच्छामि जहाकम्मं समासेण ॥ १ ॥

आदि तीर्थकर भगवान् ऋषभदेव और तीर्थकर भगवान् महावीर को नमन करके मैं,  
कुन्दकुन्द संक्षेप में और क्रमानुसार सम्यगदर्शन का विवेचन करता हूँ।

दंसणमूलो धम्मो उवद्धो जिणवरेहिं सिस्साणं ।

तं सोऊण सकण्णे दंसणहीणों ण वंदिव्वो ॥ २ ॥

भगवान् जिनेन्द्रदेव ने शिष्यों को स्पष्ट उपदेश दिया है कि सम्यगदर्शन ही धर्म की  
जड़ है। कुन्दकुन्द कहते हैं कि जो व्यक्ति इस उपदेश को समझते हैं वे सम्यगदर्शन  
से रहित व्यक्ति की वन्दना नहीं करते।

दंसणभट्ठा भट्ठा दंसणभट्ठस्स णत्थि णिव्वाणं ।

सिज्जंति चरियभट्ठा दंसणभट्ठा ण सिज्जंति ॥ ३ ॥

जो व्यक्ति सम्यगदर्शन से भटक जाते हैं वे भटके हुए ही रहते हैं। उन्हें मोक्ष और सिद्धि  
नहीं मिलती। इसके विपरीत जो व्यक्ति (कर्मों के उदय से) सम्यक् चारित्र से भटक  
जाते हैं उनके फिर सही मार्ग पर आने और सिद्धि पाने की सम्भावना रहती है।

सम्मतरयणभद्रा जाणंता बहुविहाइं सत्थाइं ।  
आराहणाविरहिया भमंति तत्थेव तत्थेव ॥ ४ ॥

सम्यग्दर्शन से रहित व्यक्ति भले ही बहुत प्रकार के शास्त्रों का ज्ञाता हो लेकिन आगाधना गहत होने के कारण वह नरक और संसार में ही परिघ्रमण करता रहता है। उसे मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती।

सम्मतविरहिया णं सुट्ठु वि उगं तवं चरंता णं ।  
ण लहंति बोहिलाहं अवि वाससहस्सकोडीहिं ॥ ५ ॥

सम्यग्दर्शन से रहित व्यक्ति भले ही हजार करोड़ वर्ष तक कठोर तपस्या करे तो भी उसे बोधि/मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती।

सम्मतणाणदंसणबलवीरियवङ्गमाण जे सव्वे ।  
कलिकलुसपावरहिया वरणाणी होंति अइरेण ॥ ६ ॥

जिन व्यक्तियों में सम्यग्ज्ञान, दर्शन, बल तथा वीर्य की भरपूरता है और जो मलिन पापों से रहित हैं वे इस पंचम काल में भी शीघ्र ही केवल ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं।

सम्मतसलिलपवहो णिच्वं हियए पवट्टए जस्स ।  
कम्मं वालुयवरणं बन्धुच्चिय णासए तस्स ॥ ७ ॥

जिस व्यक्ति के हृदय में सम्यग्दर्शन का जल प्रवाह निरन्तर बना रहता है उसे कर्म की बालू रज आवृत नहीं करती अर्थात् उसे कर्मों का बन्ध नहीं होता। अगर कर्मों की बालू रज ने उसे पहले से आवृत कर रखा हो तो वह भी हट जाती है। यानी उसका पुराना कर्मबन्ध भी छूट जाता है।

जे दंसणेसु भट्ठा णाणे भट्ठा चरित्तभट्ठा य ।  
एवे भट्ठ वि भट्ठा सेसं पि जणं विणासंति ॥ ८ ॥

जो व्यक्ति सम्यगदर्शन में, सम्यग्ज्ञान में और सम्यक् चारित्र में भ्रष्ट हैं वे महाभ्रष्ट हैं।  
उनकी संगति से अन्य व्यक्ति भी भ्रष्ट हो जाते हैं।

जो कोवि धम्मसीलो संजमतवणियमजोगगुणधारी ।  
तस्स य दोस कहंता भग्गा भग्गत्तणं दिंति ॥ ९ ॥

ऐसे भ्रष्ट व्यक्ति नियम, संयम, योग तथा गुणों से सम्पन्न धर्मशील व्यक्तियों पर  
दोषारोपण करते रहते हैं। खुद भ्रष्ट हैं पर भ्रष्टता का आरोप दूसरों पर लगाते हैं।

जह मूलम्मि विणड्हे दुमस्स परिवार णत्थि परवड्ढी ।  
तह जिणदंसणभट्ठा मूलविणड्हा ण सिज्जंति ॥ १० ॥

जड़ नष्ट हो जाने पर जैसे पेड़ का परिवार यानी शाखाएं, पत्ते नहीं बढ़ते वैसे ही  
जिनदर्शन अर्थात् सम्यगदर्शन से भ्रष्ट हुए व्यक्ति को मोक्ष नहीं मिलता।

जह मूलाओ खंधो साहापरिवार बहुगुणो होइ ।  
तह जिणदंसण मूलो णिद्विड्हो मोक्खमग्गस्स ॥ ११ ॥

पेड़ की जड़ हो तो स्कन्ध, शाखाओं आदि के रूप में उसका परिवार खूब फलता  
फूलता है। मोक्षमार्ग के सन्दर्भ में सम्यगदर्शन की भूमिका भी मूल (जड़) के रूप में  
ही है।

जे दंसणेसु भट्ठा पाएऽप्नाडंति दंसणधराणं ।  
ते होंति लल्लमूआ बोही पुण दुल्लहा तेसिं ॥ १२ ॥

जो व्यक्ति सम्यगदर्शन से भट्टके हुए हैं मगर सम्पन्न व्यक्तियों से अपने चरण स्पर्श करवाते हैं वे लूलामूका यानी एकेन्द्रिय जीव बनते हैं। उन्हें निगोद में वास करना पड़ता है। उन व्यक्तियों को बोधि की प्राप्ति नहीं होती।

जे वि पंडित य तेसिं जाणता लज्जागारवभयेण ।  
तेसिं पि णत्थि बोही पावं अणुमोयमाणाणं ॥ १३ ॥

और जो व्यक्ति सम्यगदर्शन से सम्पन्न हैं लेकिन सम्यगदर्शन से भट्टके हुए व्यक्तियों के चरणों का स्पर्श, लज्जा, भय अथवा गौरव के कारण करते हैं उन्हें भी बोधि की प्राप्ति नहीं होती।

दुविहं पि गंथचायं तीसु वि जोएसु संजमो ठादि ।  
णाणम्मि करणसुद्धे उब्भसणे दंसणं होदि ॥ १४ ॥

आभ्यन्तर और बाह्य परिग्रह के त्यागी, मन वचन काय के योगों में संयमी, कार्य को करने, कराने और अनुमोदित करने में शुद्धता का निर्वाह करने वाले खड़े रहकर भोजन ग्रहण करने वाले सम्यगदर्शन की मूर्ति स्वरूप व्यक्ति ही वन्दनीय हैं।

सम्मतादो णाणं णाणादो सव्वभावउवलद्धी ।  
उवलद्धापयत्थे पुण सेयासेयं वियाणेदि ॥ १५ ॥

सम्यगदर्शन से सम्यग्ज्ञान और सम्यग्ज्ञान से सभी पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का बोध उत्पन्न होता है। तमाम उपलब्ध पदार्थों की कल्याण-अकल्याणकारकता भी सम्यग्ज्ञान से ही समझ में आती है।

सेयायेयविदण्हू उदधुदुस्सील सीलवंतो वि ।  
सीलफलेणब्धुदयं तत्तो पुण लहइ णिव्वाणं ॥ १६ ॥

पदार्थों की कल्याण-अकल्याणकारकता को समझने से व्यक्ति की दुःशीलता खत्म हो जाती है। वह शीलवान हो जाता है। शीलवान होने से उसे अभ्युदय (सभी सांसारिक सुखों) की और फिर मोक्ष की प्राप्ति होती है।

जिणवयणमोसहमिणं विसयसुहविरेयणं अमिदभूंद ।  
जरमरणवाहिहरणं खयकरणं सव्वदुकखाणं ॥ १७ ॥

जिनेन्द्र भगवान् के उक्त वचन विषय सुखों को दूर करने वाले, बुढ़ापे तथा मौत के रोग को हरने वाले और सभी दुःखों का क्षय करने वाले अमृत के समान हैं।

एगं जिणस्स रूवं विदियं उक्किङ्गसावयाणं तु ।  
अवरद्वियाण तइयं चउत्थ पुण लिंगदंसणं णत्थि ॥ १८ ॥

जैन धर्म में तीन ही स्वरूप/वेश हैं-एक जिनेन्द्र भगवान् का नम रूप, दूसरा उत्कृष्ट श्रावक का और तीसरा आर्थिका का। इसमें किसी चौथे वेश की गुंजाइश नहीं है।

छह दव्व णव पयत्था पंचत्थी सत्त तच्च णिद्विष्ठा ।  
सदहइ ताण रूवं सो सद्विष्ठी मुणेयव्वो ॥ १९ ॥

जिनेन्द्र भगवान् ने छह द्रव्यों, नौ पदार्थों, पाँच अस्तिकायों, और सात तत्त्वों का विवेचन किया है। जो व्यक्ति इनमें श्रद्धा रखता है वह सम्यग्दृष्टि है।

जीवादीसद्वहणं सम्मतं जिणवरेहिं पण्णतं ।  
ववहारा णिच्छयदो अप्पाणं हवइ सम्मतं ॥ २० ॥

जिनेन्द्र भगवान् का कथन है कि जीव आदि पदार्थों में श्रद्धान रखना व्यवहारगत सम्यग्दर्शन है और अपने आत्म स्वरूप का अनुभव करना, उसमें श्रद्धान रखना निश्चयगत सम्यग्दर्शन है।

एवं जिणपण्णतं दंसणरयणं धरेह भावेण ।  
सारं गुणरयणत्तय सोवाणं पढम मोक्खस्स ॥ २१ ॥

इस प्रकार गुणों एवं रत्नत्रय का सार जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्रणीत सम्यग्दर्शन ही है वही मोक्ष की पहली सीढ़ी है। उसे भावपूर्वक धारण करना चाहिए।

जं सक्षइ तं कीरइ जं च ण सक्षेइ तं च सद्वहणं ।  
केवलिजिणेहिं भणियं सद्वहमाणस्स सम्मतं ॥ २२ ॥

जिन्हें सम्भव हो वे इसे आचरण में ढालें। जिन्हें सम्भव न हो वे श्रद्धा बनाए रखें।  
जिनेन्द्र भगवान् ने श्रद्धावान को ही सम्यग्दृष्टि कहा है।

दंसणणाणचरिते तवविणये णिच्वकालसुपस्तथा ।  
एदे दु वंदणीया जे गुणवादी गुणधराणं ॥ २३ ॥

जो व्यक्ति सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप तथा विनय में भली प्रकार लीन हैं और गणधर आचार्यों का गुण बखान करते हैं वे वन्दनीय हैं।

सहजुप्पणं रूवं दट्टुं जो मण्णए ण मच्छरिओ ।  
सो संजमपडिवण्णो मिच्छाइडी हवइ एसो ॥ २४ ॥

जो (भगवान् के) यथाजात (नग्न) रूप को देखकर उसके प्रति विनय भाव नहीं रखते वे ईर्ष्याग्रिस्त और दीक्षा ग्रहण करने के बावजूद मिथ्यादृष्टि हैं।

अमराण वंदियाणं रूवं दट्टूण सीलसहियाणं ।  
जे गारवं करंति य सम्मतविवज्जिया होंति ॥ २५ ॥

अणिमा आदि ऋद्धियों के स्वामी और देवताओं द्वारा वन्दित भगवान् के स्वरूप को देखकर जो विनय करने के स्थान पर गर्वोन्नत बनते हैं वे सम्यगदर्शन से रहित हैं।

अस्संजदं ण वन्दे वत्थविहीणोवि तो ण वंदिज्ज ।  
दोण्णि वि होंति समाणा एगो वि ण संजदो होदि ॥ २६ ॥

न तो असंयमी व्यक्ति वन्दना योग्य है और न खाली वस्त्ररहित व्यक्ति। इनमें से कोई भी संयमी नहीं है। दोनों समान रूप से असंयमी हैं।

ण वि देहो वंदिज्जइ ण वि यू कुलो ण बि य जाइसंजुत्तो ।  
को बंदमि गुणहीणो ण हु सवणो णेय सावओ होइ ॥ २७ ॥

न देह वन्दनीय है, न कुल और न किसी जाति विशेष का होना वन्दनीय है। गुणविहीन व्यक्ति की वन्दना क्या करना ? वह न तो सच्चा श्रमण है और न सच्चा श्रावक।

वंदमि तवसावणा सौलं च गुणं च बंभचेरं च ।  
सिद्धिगमणं च तेसिं सम्मतेण सुद्धभावणे ॥ २८ ॥

तपस्की श्रमण ही वन्दनीय हैं। सम्यगदृष्टि पूर्वक शुद्ध भाव से उनके शील, गुण, ब्रह्मचर्य और मोक्षगमन की वन्दना करनी चाहिए।

चउसड्हि चमरसहिओ चउतीसहि अइसएहिं संजुत्तो ।

अणवरबहुसत्तहिओ कम्मकखकारणणिमित्तो ॥ २६ ॥

जो चौंसठ चामरों और चौंतीस अतिशयों के स्वामी हैं, जिनसे तमाम प्राणियों का निरन्तर हित होता है और जो कर्मों का क्षय करने में निमित्त हैं उन तीर्थकर भगवान् की वन्दना करनी चाहिए।

णाणेव दंसणेण य तवेण चरियेण संजमगुणेण ।

चउहिं पि समाजोगे मोकखो जिणसासणे दिड्हो ॥ ३० ॥

ज्ञान, दर्शन, तप और चारित्र इन चार के समायोग से जो संयम गुण विकसित होता है, जैन धर्म का निष्कर्ष है कि उससे मोक्ष की प्राप्ति होती है।

णाणं णरस्स सारो सारो वि णरस्स होइ सम्मतं ।

सम्मताओ चरणं चरणाओ होइ णिव्वाणं ॥ ३१ ॥

व्यक्ति के लिए प्रथम तो सम्यग्ज्ञान सारभूत है, फिर सम्यग्दर्शन और फिर सम्यक् चारित्र। सम्यक् चारित्र से मोक्ष प्राप्त होता है।

णाणम्मि दंसणम्मि च तवेण चरिएण सम्मसहिएण ।

चउण्हं पि समाजोगे सिद्धा जीवा ण सन्देहो ॥ ३२ ॥

सम्यक्त्व सहित ज्ञान, दर्शन, तप और चारित्र इन चारों के समायोग से जीव को सिद्धि (मोक्ष) प्राप्त होती है। इसमें सन्देह नहीं हैं।

कल्लाणपरंपरया लहंति जीवा विसुद्धसम्मतं ।  
सम्मदंसणरयणं अग्धेदि सुरासुरे लोए ॥ ३३ ॥

भगवान् के गर्भ, जन्म आदि कल्याणकों की परम्परा से जीव को निर्मल सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। अर्थात् वह तीर्थकर पद को प्राप्त करता है। सम्यक्त्व यानी सम्यग्दर्शन तो एक ऐसा रत्न है जो देव, दानव और मनुष्यों द्वारा समान रूप से पूज्य है।

लद्धूण य मणुयत्तं सहियं तह उत्तमेण गोत्तेण ।  
लद्धूण य सम्मतं अकखयसोकखं च मोकखं च ॥ ३४ ॥

उत्तम कुल के साथ मनुष्य जन्म और फिर सम्यक्त्व पाकर व्यक्ति मोक्ष का अक्षय सुख पा सकता है।

विहरदि जाब जिणिंदो सहसषुलकखणेहिं संजुत्तो ।  
चउतीसअइसयजुदो सा पडिमा थावरा भणिया ॥ ३५ ॥

केवल ज्ञान की प्राप्ति के बाद एक हजार आठ लक्षणों और चौंतीस अतिशयों से युक्त तीर्थकर भगवान् जब तक लोक में विहार करते हैं उनका शरीर स्थावर प्रतिमा कहलाता है।

बारसविहतवजुत्ता कम्मं खविऊण विहिबिलेण सं ।  
वोसट्टचत्तदेहा णिव्वाणमणुत्तरं पत्ता ॥ ३६ ॥

तीर्थकरों ने बारह प्रकार के तपों से युक्त अपने चारित्र के बल से कर्मों का नाश करके विशेष द्वारा शरीर छोड़कर श्रेष्ठ मोक्ष को प्राप्त किया है।

## सुत्तपाहुड (सूत्रप्राभृतम्)

अरहंतभासियत्थं गणहरदेवेहिं गंथियं सम्मं ।

सुत्तत्थमगणत्थं सवणा साहंति परमत्थं ॥ ३७ ॥

अरिहन्तों द्वारा कहे गए और गणधर देवों द्वारा भाषा में भली प्रकार निबद्ध किए गए सूत्रों के अर्थ से मुनिजन परमार्थ (मोक्ष) को साधते हैं।

सुत्तम्मि जं सुदिङ्दुं आइरियपरंपूरेण मग्गेण ।

णाऊण दुविह सुत्तं वट्टदि सिवमग्ग जो भव्वो ॥ ३८ ॥

सूत्रों में भली प्रकार प्रतिपादित और फिर आचार्य परम्परा से प्राप्त हुए उनके शब्द और अर्थ को जो व्यक्ति समझता है और जीवन में उतारता है वह मोक्षमार्ग का पथिक है।

सुत्तं हि जाणमाणो भवस्स भवणासणं च सो कुणदि ।

सूई जहा असुत्ता णासदि सुत्ते सहा णो वि ॥ ३९ ॥

जैसे धागे से रहित सुई खो जाती है लेकिन धागे में पिरोई हुई नहीं खोती वैसे ही जिनसूत्र से युक्त यानी जिनसूत्र का ज्ञाता व्यक्ति ही संसार से, जन्ममरण के चक्र से बचा रहता है।

पुरिसो वि जो ससुत्तो ण विणांसइ सो गओ वि संसारे ।

सच्चेदण पच्चकखं णासदि तं सो अदिस्समाणो वि ॥ ४० ॥

जो व्यक्ति जिनसूत्र से सम्पन्न है वह संसार में पकड़कर भी नष्ट नहीं होता। अदृश्य होने पर भी उसका स्वसंवेदन उसके प्रत्यक्ष अनुभव में आता है। दरअसल वह तो संसार का यानी आवागमन के चक्र का ही नाश कर देता है।

सुत्तत्थं जिणभणियं जीवाजीवादिबहुविहं अत्थं ।

हेयाहेयं च तहा जो जाणइ सो हु सद्विष्टी ॥ ४१ ॥

जीव अजीव से सम्बन्धित बहुत प्रकार का अर्थ जिनेन्द्र भगवान् ने सूत्रों में प्रतिपादित किया है। उसके आधार पर जो हेय (पुद्गल आदि) और अहेय (आत्मा) में भेद कर सकता है वह सम्यगदृष्टि है।

जं सुतं जिणउत्तं ववहारो तह य जाण परमत्थो ।

तं जाणिऊण जोई लहइ सुहं खवइ मलपुंजुं ॥ ४२ ॥

जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्रतिपादित सूत्र व्यवहार और परमार्थ के विवेचक हैं। उन्हें जानकर योगी मुनि अक्षय सुख प्राप्त करते हैं और अपने कर्ममल को नष्ट करने में समर्थ होते हैं।

सुत्तत्थपयविणद्वो मिच्छादिष्टी हु सो मुणेयव्वो ।

खेडे वि ण कायव्वं पाणिपत्तं सचेलस्स ॥ ४३ ॥

जो व्यक्ति जिनसूत्रों के अर्थ से च्युत हैं वे प्रत्यक्ष मिथ्या दृष्टि हैं। ऐसे वस्त्र सहित मुनिवेशधारी को मजाक में भी पाणिपात्र आहार नहीं देना चाहिए।

हरिहरतुल्लो वि णरो सगं गच्छेइ एइ भवकोडी ।

तह वि ण पावइ सिद्धिं संसारत्थो पुणो भणिदो ॥ ४४ ॥

जो व्यक्ति जिनसूत्रों के अर्थ से च्युत हैं वे भले ही हरि, हर जैसे सामर्थ्यवान हों वे दान पूजा आदि करके स्वर्ग तो जा सकते हैं लेकिन मोक्ष नहीं पा सकते। वे फिर संसार में आते हैं।

उक्तिष्ठसीहचरियं बहुपरियम्मो य गरुयभारो य ।  
जो विहरइ सच्छंदं पावं गच्छंदि होदि मिच्छतं ॥ ४५ ॥

जो व्यक्ति भले ही उत्कृष्ट शेर की तरह आचरण करता हो, बहुत परिकर्म अर्थात् तपश्चरण आदि क्रियाएं करता रहता हो, ऊँचे पद पर बड़े दायित्वों को संभालता हो लेकिन अगर जिनसूत्र से च्युत है यानी अगर जिनसूत्रों के अनुरूप न चलकर स्वच्छन्द विहार करता है तो पाप और मिथ्यात्व ही उसके हिस्से में आते हैं।

णिच्वेलपाणिपतं उवइट्टुं परमजिणवरिदेहिं ।  
एको वि मोक्खमग्गो सेसा य अमग्या सव्वे ॥ ४६ ॥

परमदेव जिनेन्द्र भगवान् ने वस्त्र रहित शरीर, करपात्र द्वारा आहार का जो उपदेश दिया है वही एकमात्र मोक्षमार्ग है। शेष सभी अमार्ग हैं।

जो संजमेसु सहिओ आरंभपरिणहेसु विरओ वि ।  
सो होइ वंदणीओ ससुरासुरमाणुसे लोए ॥ ४७ ॥

जो संयम से युक्त और आरम्भ आदि परिग्रहों वे विरत हैं वे ही सुर, असुर और मनुष्य लोक में वन्दनीय हैं।

जे बावीसपरीसह सहंति सत्तीसएहिं संजुता ।  
ते होंति वंदणीया कम्मक्खयणिज्जरासाहू ॥ ४८ ॥

जो साधु बाईस परीषहों को सौगुनी शक्ति के साथ सहन करते हुए अपने कर्मों की निर्जरा करते हैं वे वन्दनीय होते हैं।

अवसेसा जे लिंगी दंसणणाणेण सम्म संजुता ।

चेलेण य परिगहिया ते भणिया इच्छणिज्ञा य ॥ ४६ ॥

वे साधु जो सम्यगदर्शन, ज्ञान से सम्पन्न हैं और एक वस्त्रधारी (जैसे क्षुल्लक) हैं वे भी नमन के योग्य हैं।

इच्छायारमहत्थं सुत्तिओ जो हु छंडए कम्मं ।

ठाणे ढियसम्मतं परलोयसुहंकरो होदि ॥ ५० ॥

जिन सूत्र में उल्लिखित इच्छाकार (मैं निज स्वरूप की वांछा करता हूँ) के महान कार्य अर्थ से परिचित व्यक्ति निश्चय ही कर्मों का त्याग करता है। वह विशेष प्रतिमाधारी और सम्यगदर्शन से युक्त (श्रावक) है। वह परलोक में सुख भोगता है।

अह पुण अप्पा णिच्छदि धम्माइं करेइ णिरवसेसाइं ।

तह वि ण पावदि सिद्धिं संसारत्थो पुणो भणिदो ॥ ५१ ॥

जो आत्मस्वरूप की इच्छा नहीं करता और तमाम धर्म (दान, पुण्य आदि) करता फिरता है उसे सिद्धि (मोक्ष) नहीं मिलती। वह संसार में ही बना रहता है। उसका जन्ममरण का चक्र समाप्त नहीं होता।

एएण कारणेण य तं अप्पा सद्हेह तिविहेण ।

जेण य लहेह मोक्खं तं जाणिज्जह पयत्तेण ॥ ५२ ॥

इसलिए उस आत्मा के प्रति मन, वचन, काय से श्रद्धा करना चाहिए जिसके द्वारा मोक्ष मिलना है। कम से कम उसे प्रयत्नपूर्वक जानना तो चाहिए।

वालगकोडिमेत्तं परिगहगहणं ण होइ साहूणं ।  
भुंजेइ पाणिपत्ते दिण्णण्णं इक्काठाणम्मि ॥ ५३ ॥

मुनिजन तो बाल के अग्रभाग के बराबर भी परिग्रह नहीं पालते। आहार लेते वक्त उनके हाथ ही आहार ग्रहण करने के उनके पात्र होते हैं। अन्न भी दूसरे का दिया होता है और वह भी वे एक बार एक ही स्थान पर ग्रहण करते हैं।

जहजायर्लवसरिसो तिलतुसमेत्तं ण गिहदि हत्थेसु ।  
जइ लेइ अप्पबहुयं तत्तो पुण जाइ णिगोदम् ॥ ५४ ॥

मुनि तो यथाजात रूप (शिशु की तरह जैसे जन्म लेते हैं वैसे) होते हैं। तिल का तुष मात्र आहार भी अपने हाथ से लेकर ग्रहण नहीं करते हैं। यदि कम या ज्यादा अपने हाथ से लेते हैं तो उन्हें निगोद में जाना पड़ता है।

जस्स परिंगहगहणं अप्पं बहुयं च हवइ लिंगस्स ।  
सो गरहित जिणवयणे परिगहरहिओ णिरायारो ॥ ५५ ॥

जो मुनि कम या ज्यादा परिग्रह से ग्रस्त है वह निन्दनीय है। जिन शासन के मतानुसार अनागर (मुनि) को तो सर्वथा परिग्रह रहित होना चाहिए।

पंचमहव्यजुत्तो तिहिं गुत्तिहिं जो स संजदो होइ ।  
णिगंथमोक्खमगो सो होदि हु बंदणिज्जो य ॥ ५६ ॥

जो मुनि पाँच महाब्रतों और तीन गुप्तियों से सम्पन्न हो, संयमवान, निर्ग्रन्थ तथा मोक्ष मार्ग का विश्वासी हो वही वन्दनीय होता है।

दुइयं च उत्त लिंग उक्किङ्गुं अवरसावयाणं च ।  
भिक्खुं भमेइ पते समिदीभासेण मोणेण ॥ ५७ ॥

दूसरा वेश (ग्यारह प्रतिमाधारी) उत्कृष्ट अगृही श्रावक का होता है। वह ईर्या समिति के साथ मौन धारण किए हुए करभोजी आहार के लिए भ्रमण पर निकलता है।

लिंगं इत्थीण हवदि भुंजइ पिंडं सुएयकालम्मि ।  
अज्जिय वि एकवत्था वत्थावरणेण भुंजेदि ॥ ५८ ॥

तीसरा वेश आर्थिका और क्षुलिका का होता है। वे दिन में एक बार भोजन करती हैं और अगर आर्थिका होती हैं तो एक से अधिक वस्त्र धारण किए बिना भोजन करती हैं।

ण वि सिज्जदि वत्थधरो जिणसासणे जइ वि होइ तित्थयरो ।  
णगो विमोक्खमगो सेसा उम्मगया सव्वे ॥ ५९ ॥

जिन शासन का मत है कि वस्त्रधारी को, भले ही वह तीर्थकर हो, मोक्ष नहीं मिलता। नग्नत्व ही मोक्ष का मार्ग है। शेष सभी उन्मार्ग मात्र हैं।

लिंगम्मि य इत्थीणं थणंतरे णाहिकक्खदेसेसु ।  
भणिओ सुहुमो काओ तासिं कह होइ पञ्चज्ञा ॥ ६० ॥

स्त्रियों की योनि, स्तनों के मध्यदेश, नाभि और बाहुमूल (कांखों) में दृष्टिअगोचर सूक्ष्मकाय जीवाणु कहे गए हैं। इसलिए स्त्रियों की (महाब्रत रूप) दीक्षा कैसे हो सकती है ?

जइ दंसणेण सुद्धा उत्ता मगोण सावि संजुत्ता ।

घोरं चरिय चरित्तं इत्थीसु ण पञ्चया भणिया ॥ ६१ ॥

लेकिन यदि स्त्री सम्यग्दर्शन से निर्मल है, कठोर तपश्चरण कर चुकी है तो वह मोक्ष के मार्ग में है। उसे पापयुक्त नहीं कहा जा सकता।

चित्तासोहि ण तेसिं ढिल्लं भावं तहा सहावेण ।

विज्जदि मासा तेसिं इत्थीसु ण संकया झाणा ॥ ६२ ॥

स्त्रियों के चित्त में शुद्धता नहीं होती, स्वभाव में शिथिलता होती है, मासिक स्त्राव होता है। इसलिए वे निःशंक ध्यान नहीं कर सकतीं।

गाहेण अप्पगाहा समुद्रसलिले सचेलअत्थेण ।

इच्छा जाहु णियत्ता ताह णियत्ताइं सञ्चुदुकखाइं ॥ ६३ ॥

अपना वस्त्र धोने के लिए जैसे समुद्र से थोड़ा ही जल ग्रहण किया जाता है वैसे ही जो मुनि ग्रहण करने योग्य आहारादि भी अल्प ही ग्रहण करता है वह इच्छाओं से और फलस्वरूप दुःखों से निवृत्त हो जाता है।

## चारित्पाहुड

(चारित्रप्राभृतम्)

सव्वण्हु सव्वदंसी णिम्मोहा वीयराय परमेष्ठी ।  
वंदितु तिजगबंदा अरहंता भव्वजीवेहि ॥ ६४ ॥

णाणं दंसण सम्मं चारित्तं सोहिकारणं तेसिं ।  
मोकखाराहणहेउं चारित्तं पाहुड वोच्छे ॥ ६५ ॥

सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, मोहमुक्त, वीतराग और भव्य जीवों द्वारा सदैव वन्दित अरिहन्त परमेष्ठी की वन्दना करके मैं कुन्दकुन्द सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र को शुद्ध करने वाले चारित्रप्राभृत का विवेचन करता हूँ। यह चारित्रप्राभृत मोक्ष का कारण है।

जं जाणइ तं णाणं जं पेच्छइ तं च दंसणं भणियं ।  
णाणस्स पिच्छियस्स य समवण्णा होइ चारित्तं ॥ ६६ ॥

हम जो जानते हैं वह ज्ञान है। जो देखते हैं वह दर्शन है। ज्ञान और दर्शन के समायोग से जो घटित होता है, हमारे भीतर चरितार्थ होता है वह चारित्र होता है।

एए तिण्णि वि भावा हवंति जीवस्स अक्खयामेया ।  
तिण्हं पि सोहणतथे जिणभणियं दुविह चारित्तं ॥ ६७ ॥

ज्ञान, दर्शन और चारित्र जीव (आत्मा) के अक्षय और अनन्त भाव हैं। इनके शोधन के लिए जिनेन्द्र भगवान् ने चारित्र को दो प्रकार का कहा है।

जिणणाणदिङ्गिसुद्धं पढमं सम्मतचरणचारितं ।

विदियं संजमचरणं जिणणाणसदेसियं तं पि ॥ ६८ ॥

पहला प्रकार तो जिनेन्द्र भगवान् के ज्ञान, दर्शन से शुद्ध किया गया सम्यक्त्व का आचरण है और दूसरा प्रकार संयम का वैसा आचरण है जैसा जिनेन्द्र भगवान् ने आगम में कहा है।

एवं चिय णाऊण य सव्वे मिच्छतदोस संकाइ ।

परिहर सम्मतमला जिणभणिया तिविहजोएण ॥ ६९ ॥

इस प्रकार (पूर्वोक्त प्रकार) से सम्यक्त्व को जानना चाहिए और उसे मलिन करने वाले शंका आदि मिथ्यात्व जनित तमाम दोषों को मन, वचन, काय से छोड़ देना चाहिए।

णिस्संकिय णिकंखिय णिव्विदिगिंछा अमूढीदिङ्गी य ।

उवगूहण ठिदिकरणं वच्छल्ल पहावणा य ते अटु ॥ ७० ॥

सम्यक्त्व यानी सम्यग्दर्शन के आठ अंग हैं- निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़ दृष्टि, उपगूहन, स्थितीकरण, वात्सल्य और प्रभावना।

तं चेव गुणविसुद्धं जिणसम्मतं सुमुक्खठाणाएं ।

जं चरइ णाणजुतं पढमं सम्मतचरणचारितं ॥ ७१ ॥

जिनेन्द्र भगवान् के प्रति ऐसी श्रद्धा का होना जो निःशंकित आदि गुणों से निर्मल है और ज्ञान के साथ आचरण में उतरी है सम्यक्त्वाचरण चारित्र है। यह मोक्ष प्राप्ति का साधन और प्रमुख सम्यग्दर्शन है।

सम्मतचरणसुद्धा संजमचरणस्स जइ व सुपसिद्धा ।  
णाणी अमूढदिष्टी अचिरे पावंति णिव्वाणं ॥ ७२ ॥

सम्यक्त्व के आचरण से शुद्ध और संयम के आचरण में ऊँचाई पर पहुंचे हुए अमूढ़ दृष्टि ज्ञानियों को निर्वाण की प्राप्ति शीघ्र हो जाती है।

सम्मतचरणभट्ठा संजमचरणं चरंति जे वि णरा ।  
अण्णाणणाणमूढा तह वि ण पावंति णिव्वाणं ॥ ७३ ॥

सम्यक्त्व से रहित जो व्यक्ति सिर्फ़ संयम का आचरण करते हैं वे अज्ञानी और मूढ़ दृष्टि हैं। उन्हें निर्वाण की प्राप्ति नहीं होती।

वच्छलुं विणएण य अणुकंपाए सुदाणदच्छाए ।  
मगगुणसंसणाए अवगूहण रक्खणाए य ॥ ७४ ॥  
एएहिं लक्खणेहिं य लक्खिज्जइ अज्जबेहिं भावेहिं ।  
जीवो आराहंतो जिणसम्तं अमोहेण ॥ ७५ ॥

मोह से मुक्त हुआ व्यक्ति अगर जिनेन्द्र भगवान् के प्रति श्रद्धा रखता हुआ आराधना में तल्लीन रहता है और सरल परिणामों के साथ वात्सल्य, विनय, अनुकम्पा, सुपात्र को दान देने की दक्षता, मोक्षमार्ग के प्रति प्रशंसाभाव, उपगूहन और रक्षण जैसे लक्षणों से युक्त है तो वह सम्यग्दृष्टि है।

उच्छाहभावणासंपसंससेवा कदंसणे सद्धा ।  
अण्णाणमोहमगे कुव्वंतो जहदि जिणसम्मं ॥ ७६ ॥

अज्ञान तथा मोहकर्म के मार्ग कुर्दर्शन के प्रति श्रद्धा, उत्साह, प्रशंसा और सेवाभाव रखने वाला व्यक्ति सम्यग्दर्शन से वंचित हो जाता है।

उच्छाहभावणासंपसंससेवा सुदंसणे सद्गा ।

ण जहदि जिणसम्मतं कुव्वंतो माणमगेण ॥ ७७ ॥

व्यक्ति अगर सुर्दर्शन के प्रति ज्ञानपूर्वक उत्साह, प्रशंसा तथा सेवाभाव रखनेवाला हो तो जैनमत के प्रति उसका सम्यग्दर्शन अक्षुण्ण बना रहता है।

अण्णाणं मिच्छतं वज्जह णाणे विसुद्धसम्मते ।

अह मोहं सारंभं परिहर धम्मे अहिंसाए ॥ ७८ ॥

व्यक्ति को चाहिए कि वह ज्ञान, सम्यक्त्व और अहिंसा धर्म प्राप्त हो जाने पर फिर कभी अज्ञान, मिथ्यात्व और आरम्भ से परिपूर्ण मोह के चक्कर में न पड़े।

पव्वज्ज संगचाए पयट्ट सुतवे सुसंजमे भावे ।

होइ सुविसुद्धझाणं णिम्मोहे वीयरायते ॥ ७९ ॥

परिग्रह से मुक्त दीक्षा, श्रेष्ठ तप और संयमभाव में ही व्यक्ति को प्रवर्तित होना चाहिए ताकि वह मोहरहित वीतरागता और मोहहीनता में रह सके तथा निर्मल शुक्ल ध्यान में अवस्थित हो सके।

मिच्छादंसणमगे मलिणे अण्णाणमोहदोसेहिं ।

वज्जंति मूढ़जीवा मिच्छत्ताबुद्धिउदएण ॥ ८० ॥

मूढ़ व्यक्ति मिथ्यात्व और अबुद्धि के उदय के कारण अज्ञान और मिथ्यात्व से मलिन हुए मिथ्या दर्शन के मार्ग पर चलते हैं।

सम्मदंसण पस्सदि जाणदि णाणेण दव्वपञ्जाया ।

सम्मेथ स सद्गदि य परिहरदि चरित्तजे दोसे ॥ ८१ ॥

आत्मा सम्यग्दर्शन द्वारा वस्तु को देखती है। सम्यग्ज्ञान द्वारा उसे जानती है। सम्यक्त्व द्वारा उस पर श्रद्धान करती है। इस प्रकार देखने, जानने और श्रद्धा करने से वह चारित्रिगत दोषों का परिहार करती है।

ए ए तिण्णि वि भावा हवंति जीवस्स मोहरहियस्स ।

णियुगणमाराहंतो अचिरेण य कम्म परिहरइ ॥ ८२ ॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ये तीनों भाव मोह रहित जीव के होते हैं। ऐसा व्यक्ति अपने आत्मस्वरूप की आराधना करता हुआ शीघ्र ही कर्मों का नाश करने में समर्थ होता है।

संखिज्जमसंखिज्जगुणं च संसारिमेरुमत्तां णं ।

सम्मतमणुचरंता करेंति दुक्खक्खयं धीरा ॥ ८३ ॥

सम्यक्त्व के मार्ग पर चलते हुए धैर्यवान व्यक्ति सांसारिक अस्तित्व के कारण स्वरूप संख्यात गुणा, असंख्यात गुणा कर्मों का और उनसे उपजे दुख का क्षय करते हैं।

दुबिहं संजमचरणं सायारं तह हवे णिरायारं ।

सायारं सगथे परिग्नहा रहिय खलु णिरायारं ॥ ८४ ॥

संयम का आचरण दो प्रकार का है- सागार और अनागार। सागार संयम परिग्रहयुक्त होने के कारण श्रावकों का और अनागार संयम परिग्रहरहित होने के कारण मुनियों का विषय है।

दंसण वय सामाइय पोसह सचित्त रायभत्ते य ।

बंभारंभपरिग्नह अणुमण उद्दिङ्ग देसविरदो य ॥ ८५ ॥

सागार संयमाचरण के तहत देशविरत के ग्यारह प्रकार हैं-दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास, ब्रह्मचर्य और सचित्त त्याग, रात्रि भोजन त्याग, आरम्भ त्याग, परिग्रह त्याग, अनुमति त्याग तथा उद्दिष्ट त्याग। (दूसरे शब्दों में ये श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएं हैं)

पंचेव णुव्याइं गुणव्याइं हवंति तह तिणि ।  
सिक्खावय चत्तारि य संजमचरणं च सायारं ॥ ८६ ॥

सागार (श्रावक) के संयमाचरण में पाँच अणुब्रत, तीन गुणब्रत और चार शिक्षाब्रत होते हैं।

थूले तसकायवहे थूले मोषे अदत्तथूले य ।  
परिहारो परमहिला परिग्रहारंभपरिमाणं ॥ ८७ ॥

स्थूल हिंसा यानी त्रस जीवों के वध, स्थूल असत्य, स्थूल परद्रव्य हरण और परस्ती इन चार से विरत होना तथा आरम्भ-परिग्रह का परिमाण बांधना इस प्रकार ये पाँच अणुब्रत हैं।

दिसिविदिसिमाण पढमं अणत्थदंडस्स वज्जणं बिदियं ।  
भोगोपभोगपरिमा इयमेव गुणव्या तिणि ॥ ८८ ॥

दिशा, विदिशा में गमन का परिमाण निश्चित रखना, अनर्धदण्ड की वर्जना और भोगोपभोग का परिमाण बांधना ये तीन गुणब्रत हैं।

सामाइयं च पढमं बिदियं च तहेव पोसहं भणियं ।  
तइयं च अतिहिपुज्जं चउत्थ सल्लेहणा अंते ॥ ८९ ॥

सामायिक, प्रोषधोपवास, अतिथिपूजा और सल्लेखना ये चार क्रमशः प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ शिक्षावृत हैं।

एवं सावयधम्मं संजमचरणं उदेसियं सयलं ।  
सुद्धं संजमचरणं जइधम्मं णिक्कलं वोच्छे ॥ ९० ॥

इस प्रकार सागार (श्रावक) धर्म के संयम आचरण का उल्लेख करने के बाद अब मैं अनागार यानी मुनिधर्म के निर्मल संयम आचरण का वर्णन करता हूँ।

पंचेदियसंवरणं पंच वया पंचविंसकिरियासु ।

पंच समिदि तय गुत्ती संजमचरणं णिरायारं ॥ ६१ ॥

अनागार (मुनि) के संयम आचरण के अंग हैं-पंचेन्द्रियों का संवर (संकोचन), पच्चीस क्रियाओं के सद्भावपूर्वक पाँच व्रत, पाँच समितियाँ और तीन गुप्तियाँ।

अमणुण्णे य मणुण्णे सजीवदव्वे अजीवदव्वे य ।

ए करेदि रायदोसे पंचेदियसंवरो भणिओ ॥ ६२ ॥

असुन्दर और सुन्दर तथा सजीव और अजीव किसी भी द्रव्य के प्रति राग द्वेष न रखना पंचेन्द्रिय संवर कहलाता है।

हिंसाविरइ अहिंसा असच्विरइ अदत्तविरई य ।

तुरियं अबंभविरई पंचम संगम्मि विरइ य ॥ ६३ ॥

हिंसा से विरति, यानी अहिंसा, असत्य से विरति, यानी सत्य, अदत्त से विरति यानी अचौर्य, अब्रह्मचर्य से विरति और परिग्रह से विरति ये पाँच महाव्रत हैं।

साहंति जं महल्ला आयरियं जं महल्लपुव्वेहिं ।

जं च महल्लाणि तदो महव्वया इत्तहे याइं ॥ ६४ ॥

इन्हें महाव्रत कहने का कारण यह है कि अतीत में महापुरुषों ने इनका आचरण किया, वर्तमान में भी ये महापुरुषों के आचरण में हैं और अपने आप में भी ये महान हैं।

वयगुत्ती मणगुत्ती इरियासमिदी सुदाणणिकखेवो ।

अवलोयभोयणाए अहिंसाए भावणा होंति ॥ ६५ ॥

अहिंसा महाव्रत की पाँच भावनाएँ हैं-वचन गुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्या समिति, कमंडलु आदि के ग्रहण के रूप में आदान निक्षेपण समिति और देखकर विधिपूर्वक आहार ग्रहण करना यानी एषणा समिति।

कोहभयहासलोहा मोहा विवरीयभावणा चेव ।  
विदियस्स भावणाएं ए पंचेव य तहा होंति ॥ ६६ ॥

सत्य महाब्रत की पाँच भावनाएं हैं- क्रोध, भय, हास्य, लोभ, मोह से उलटी भावनाएं अर्थात् अक्रोध, अभय, अहास्य, अलोभ और अमोह।

सुण्णायारणिवासो विमोचियावास जं परोधं च ।  
एसणसुद्धिसउतं साहम्मीसंविसंवादो ॥ ६७ ॥

अचौर्य महाब्रत की पाँच भावनाएं हैं- शून्य आगार (गुफा, तरुकोटर आदि) में निवास, त्याग दिए गए मकान, गांव आदि में रहना, दूसरों के लिए कोई रुकावट न बनना, एषणा शुद्धि (शुद्ध आहार लेना) और साधर्मी के साथ विसंवाद नहीं करना।

महिलालोयणपुञ्वरइसरणसंसत्तवसहिविकहाहिं ।  
पुष्टियरसेहिं विरओ भावण पंचावि तुरियम्मि ॥ ६८ ॥

ब्रह्मचर्य महाब्रत की पाँच भावनाएं हैं- महिलाओं को रागपूर्वक देखने, पूर्व भोगों को याद करने, स्त्रियों के समीपतर वस्तिका में ठहरने, स्त्रीराग की कथा करने और पौष्टिक रसों का सेवन करने से विरत होना अर्थात् इन पाँचों से विरत रहना।

अपरिग्रह समणुण्णेसु सद्परिसरसरूवगंधेसु ।  
रायद्वोसाईणं परिहारो भावणा होंति ॥ ६९ ॥

अपरिग्रह महाब्रत की भी पाँच भावनाएं हैं- स्पर्श, रस, रूप, गन्ध और शब्द के कारण सुन्दर-असुन्दर में कोई राग-द्वेष न रखना।

इरिया भासा एसण जा सा आदाण चेव णिक्खेवो ।  
संजमसोहिणिमित्तं खंति जिणा पंच समिदीओ ॥ १०० ॥

संयम आचरण की शुद्धि के लिए जिनेन्द्र भगवान् ने पाँच समितियों का कथन किया है-ईर्या (चलते समय चार हाथ पृथ्वी देखकर चलना), भाषा (हितमित वचन बोलना), एषणा (शुद्ध आहार लेना) आदान (धर्म के उपकरणों को यत्नपूर्वक उठाकर लेना) और निक्षेपण (पुस्तक, कमण्डलु, आदि को सावधानी से रखना)।

भव्वजबाहेणत्थं जिणमग्गे जिणवरेहि जह भणियं ।  
णाणं णाणसरूवं अप्पाणं तं वियाणेहि ॥ १०१ ॥

भव्य जनों के उद्बोधन के लिए जिनेन्द्र भगवान् के जिनमार्ग में ज्ञान और ज्ञान स्वरूप आत्मा के सम्बन्ध में जैसा कहा है वैसा जानना चाहिए।

जीवाजीवविभत्ती जो जाणइ सो हवेइ सण्णाणी ।  
रायादिदोसरहिओ जिणसासणे मोक्खमग्गोत्ति ॥ १०२ ॥

जिन शासन में यही मोक्ष का मार्ग है कि आप जीव-अजीव के भेद को जानने वाले सम्यग्ज्ञानी हों और रागद्वेष से रहित रहें।

दंसणणाणचरित्तं तिण्णि वि जाणेह परमसद्गाए ।  
जं जाणिऊण जोई अझेण लहंति णिव्वाणं ॥ १०३ ॥

दर्शन, ज्ञान और चारित्र को श्रद्धापूर्वक जानना चाहिए। इसे जानकर ही योगीजन शीघ्र निर्वाण प्राप्त करते हैं।

पाऊण णाणसलिलं णिम्मलसुविशुद्धभावसंजुत्ता ।  
होंति सिवालयवासी तिहुवणचूड़ामणी सिद्धा ॥ १०४ ॥

जिनेन्द्र भगवान् द्वारा भाषित ज्ञान का जल पाकर जो व्यक्ति निर्मल भावों से भर उठते हैं वे तीन लोक के चूड़ामणि और मोक्षमंदिर में रहने वाले सिद्ध परमेष्ठी बनते हैं।

णाणुगुणेहिं विहीणा ण लहंते ते सुइच्छ्यं लाहं ।  
इय णाउ गुणदोसं तं सण्णाणं वियाणेहि ॥ १०५ ॥

ज्ञान गुण के बिना व्यक्ति को अपना वांछित लाभ नहीं मिलता। इसलिए इस विषय में गुण दोष समझकर उसे सम्यग्ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

चारित्तसमारूढो अप्पासु परं ण ईहए णाणी ।  
पावइ अइरेण सुहं अणोवमं जाण णिच्छ्यदो ॥ १०६ ॥

जो व्यक्ति सम्यग्ज्ञानी है और सम्यक् चारित्र का भी धनी है वह अपनी आत्मा में कभी परपदार्थ की इच्छा नहीं करता। उसे असन्दिग्ध रूप से शीघ्र ही अनुपम सुख की प्राप्ति होती है।

एवं सखेवेण य भणियं णाणेण बीयराएण ।  
सम्मत्तसंजमासयदुण्हं पि उदेसियं चरणं ॥ १०७ ॥

इस प्रकार वीतराग भगवान् ने संक्षेप में सम्यग्ज्ञान को कहकर सम्यग्दर्शन और संयम के आश्रयभूत चारित्र को दो प्रकार (सम्यक्त्वाचरण तथा संयमाचरण) से प्रतिपादित किया है।

भावेह भावसुद्धं फुडु रइयं चरणपाहुड चेव ।  
लहु चउगइ चइऊणं अइरेण पुणब्भवा होई ॥ १०८ ॥

आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि मैंने भावनाओं से शुद्ध और बहुत सुलझे हुए रूप में चारित्र पाहुड (चारित्र प्राभृत) की रचना की है। आप पाठकगण इसे बार बार अपने भावों में लाएं ताकि आपको शीघ्र ही मोक्ष मिल सके और आप चार गतियों में होने वाले पुनर्जन्म से मुक्त हो सकें।

# बोहिपाहुड (बोधप्राभृतम्)

बहुसत्थअत्थजाणे संजमसम्मतसुद्धतवयरणे ।  
वंदिता आयरिए कसायमलवज्जिदे सुद्धे ॥ १०६ ॥

सयलजणबोहणतथं जिणमगे जिणवरेहिं जह भणियं ।  
वोच्छामि समासेण छक्कायसुहंकरं सुणह ॥ ११० ॥

जिनेन्द्र भगवान् ने जिनमत के विषय में जो कुछ कहा है उसे मैं कुन्दकुन्द अनेकानेक शास्त्रों के अर्थज्ञाता, संयम एवं सम्यक्त्व के धनी, परम तपस्वी और कषायों से मुक्त निर्मल आचार्यों की वन्दना करके संक्षेप में कहता हूँ । हे पाठकों, षट्काय जीवों को सुख देने वाले इस विवेचन को कृपया पढ़ें ।

आयदणं चेदिहरं जिणपडिमा दंसणं च जिणबिंबं ।  
भणियं सुवीयरायं जिणमुद्धा णाणमादत्थं ॥ १११ ॥

अरहंतेण सुदिङ्दुं जं देवं तित्थमिह य अरहंतं ।  
पावज्जगुणविसुद्धा इय णायव्वा जहाकमसो ॥ ११२ ॥

इस बोध पाहुड में वीतराग भगवान् द्वारा किए गए प्रतिपादन के अनुसार निम्नांकित विषयों का क्रमशः वर्णन है- १. आयतन, २. चैत्यगृह, ३. जिन प्रतिमा, ४. दर्शन, ५. वीतराग जिनबिम्ब, ६. राग रहित जिनमुद्धा और ७. आत्मार्थ ज्ञान ।

इनके अलावा अरिहन्तों द्वारा प्रतिपादित, ८. देव, ९. तीर्थ, १०. अरिहन्त और ११. गुणों से विशुद्ध हुई प्रब्रज्या का भी वर्णन इसमें है ।

मणवयणकायदव्वा आसत्ता जस्स इन्दिया विसया ।  
आयदणं जिणमगे णिदिङ्गं संजयं रूबं ॥ ११३ ॥

मन, वचन, काय रूपी द्रव्य और इन्द्रियों के सभी विषय जिनके अधीन होते हैं वे जिनमार्ग के संयमी मुनि आयतन कहलाते हैं।

मय राय दोस मोहो कोहो लोहो य जस्स आयत्ता ।  
पंचमहव्यधारा आयदणं महरिसी भणियं ॥ ११४ ॥

जो राग, द्वेष, मद, मोह, क्रोध, लोभ आदि को अपने वश में रखते हैं और पाँच महाब्रतों को धारण करते हैं वे महामुनि आयतन कहलाते हैं।

सिद्धं जस्स सदत्थं विसुद्धज्ञाणस्स णाणजुत्तस्स ।  
सिद्धायदणं सिद्धं मुणिवरवसहस्स मुणिदत्थं ॥ ११५ ॥

जो मुनि के वास्तविक अर्थ में मुनित्व को उपलब्ध कर चुके हैं, विशुद्ध ध्यान और केवलज्ञान से सम्पन्न हैं वे ही श्रेष्ठ मुनि सिद्धायतन हैं।

बुद्धं जं बोहंतो अप्पाणं चेदयाइं अण्णं च ।  
पंचमहव्यसुद्धं णाणमयं जाण चेदिहरं ॥ ११६ ॥

जो आत्मस्वरूप को जानता हो, अन्य सभी जीवों को भी चेतना स्वरूप समझता हो, पाँच महाब्रतों से शुद्ध हो और ज्ञानमय हो वही मुनि चैत्यगृह है।

चेइय बंधं मोक्खं दुक्खं च अप्पयंतस्स ।  
चेइहरं जिणमगे छक्कायहियंकरं भणियं ॥ ११७ ॥

जिसकी आत्मा में बन्धमोक्ष, सुख दुःख होता हो, जो जिनशासन के अनुसार षट्काय जीवों का हित करने वाला हो वह (मुनि) चैत्यगृह है।

सपरा जंगमदेहा दंसणणाणेण सुद्धचरणाणं ।  
णिगंथवीयराया जिणमगे एरिसा पडिमा ॥ ११८ ॥

दर्शन और ज्ञान के कारण जिसका चारित्र निर्मल है, जिसके लिए आत्मा स्व और देह पर है, जो निर्गन्थ वीतराग है वह जिनशासन के अनुसार प्रतिमा है।

जं चरदि सुद्धचरणं जाणइ पिच्छेइ सुद्धसम्भतं ।  
सा होई वंदणीया णिगंथा संजदा पडिमा ॥ ११९ ॥

जिसका आचरण अत्यन्त शुद्ध हो और शुद्ध सम्यक्त्व को जानने, देखने में समर्थ हो वह परिग्रहों से मुक्त और संयमी मुनि प्रतिमा है। वह वन्दनीय है।

दंसणअणंतणाणं अणंतवीरिय अणंतसुकखाय ।  
सासयसुकख अदेहा मुक्ता कम्मट्बंधेहिं ॥ १२० ॥

णिरूपममचलमखोहा णिम्मिविया जंगमेण रूपेण ।  
सिद्ध ट्वाणम्मि ठिया वोसर पडिमा धुवा सिद्धा ॥ १२१ ॥

जो अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य और अनन्त सुख से युक्त है, शाश्वत सुख का धनी है, देहरहित है, आठ प्रकार के कर्मों के बन्धन से परे है, अनुपम है, अचल और क्षोभरहित है, जंगम रूप से निर्मित है और सिद्ध स्थान में कायोत्सर्ग मुद्रा में स्थित है वह ध्रुव सिद्ध प्रतिमा (सिद्ध भगवान्) है।

दंसेइ मोक्खमगं सम्भतं संजमं सुधम्मं च ।  
णिगंथं णाणमयं जिणमगे दंसणं भणियं ॥ १२२ ॥

सम्यग्दर्शन, संयम, सुधर्म, निर्गन्थता (परिग्रह राहित्य) और ज्ञान से सम्पन्न मोक्षमार्ग को दिखाने वाला जिनमत में दर्शन कहलाता है।

जह फुल्लं गंधमयं भवदि हु खीरं स घियमयं चावि ।  
तह दंसणं हि सम्मं णाणमयं होइ रूवत्थं ॥ १२३ ॥

जिस प्रकार फूल में गन्ध और दूध में धी होता है उसी प्रकार दर्शन ज्ञानमय होता है।  
मुनि तथा उत्कृष्ट श्रावक, आर्यिका उसके बाह्य स्वरूप हैं।

जिणबिंबं णाणमयं संजमसुद्धं सुवीयरायं च ।  
जं देइ दिक्खसिकखा कम्मकखयकारणे सुद्धा ॥ १२४ ॥

जो (आचार्य) ज्ञानमय, संयम से शुद्ध और श्रेष्ठ वीतराग होता है तथा कर्मक्षय करने  
वाली शुद्ध शिक्षा दीक्षा देता है वह जिनबिम्ब है।

तस्स य करह पणामं सव्वं पुज्जं च विणय वच्छल्लं ।  
जस्स य दंसण णाणं अत्थि धुवं चेयणाभावो ॥ १२५ ॥

सम्यग्दर्शन, ज्ञान और आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिए जिनबिम्ब को प्रणाम करना  
चाहिए, उसकी पूजा, विनय और वात्सल्य करना चाहिए।

तववयगुणेहिं सुद्धो जाणदि पिच्छेद सुद्धसम्मतं ।  
अरहन्तमुद्द एसा दायारी दिक्खसिकखा य ॥ १२६ ॥

अरिहन्त की मुद्रा तप, व्रत तथा गुणों से शुद्ध होती है। वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान के  
आधार पर यथार्थ को देखने, जानने में समर्थ होती है और शिक्षा दीक्षा देने वाली  
होती है।

दंडसंजममुद्दाए इन्दियमुद्दा कसायदढमुद्दा ।  
मुद्दा इह णाणाए जिणमुद्दा एरिसा भणिया ॥ १२७ ॥

इन्द्रिय विषयों के प्रति दृढ़ संयम मुद्रा, कषायों के प्रति दृढ़ मुद्रा और ज्ञान मुद्रा (से  
युक्त मुनि) ही दरअसल जिनमुद्रा है।

संजमसंजुत्तस्स य सुझाणजोयस्स मोक्खमग्गस्स ।

णाणेण लहदि लक्खं तम्हा णाणं च णायव्वं ॥ १२८ ॥

संयम से युक्त और श्रेष्ठ ध्यान के योग्य मोक्षमार्ग का लक्ष्य ज्ञान से ही प्राप्त होता है।  
इसलिए ज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

जह ण वि लहदि हु लक्खं रहिओ कंडस्स वेज्जयविहीणो ।

तह ण वि लक्खदि लक्खं अण्णाणी मोक्खमग्गस्स ॥ १२९ ॥

जैसे धनुष बाण के बिना लक्ष्यवेद्ध नहीं होता वैसे ही ज्ञान के बिना मोक्षमार्ग के लक्ष्य को देखा/ पाया नहीं जा सकता।

णाणं पुरिसस्स हवदि लहदि सुपुरिसो वि विणयसंजुत्तो ।

णाणेण लहदि लक्खे लक्खंतो मोक्खमग्गस्स ॥ १३० ॥

ज्ञान तो व्यक्ति को ही प्राप्त होता है लेकिन वह उस श्रेष्ठ व्यक्ति को प्राप्त होता है जो विनय से युक्त होता है। ज्ञान से ही मोक्षमार्ग का ध्यान करते हुए (आत्मस्वरूप रूपी) लक्ष्य की प्राप्ति होती है।

मङ्गधणुहं जस्स थिरं सुदगुण वाणा सुअत्थि रथणत्तं ।

परमत्थबद्धलक्खो णवि चुक्कदि मोक्खमग्गस्स ॥ १३१ ॥

जिसके पास मति ज्ञान रूपी ऐसा स्थिर धनुष है जिसकी प्रत्यंचा श्रुत ज्ञान की और श्रेष्ठ बाण रत्नत्रय के हैं तथा जिसने परमार्थ को लक्ष्य बना रखा है उसका (उस मुनि का) (मोक्ष मार्ग / परमार्थ का) निशाना कभी चूकता नहीं।

सो देवो जो अत्थं धम्मं कामं सुदेइ णाणं च ।

तो दइ जस्स अत्थि हु अत्थो धम्मो य पञ्चज्ञा ॥ १३२ ॥

देव वह है जो भरपूर अर्थ, धर्म, काम, ज्ञान (मोक्ष का कारण) आदि देता है। जिसके पास जो है वही तो वह देगा। जिसके पास धर्म एवं दीक्षा है वह धर्म और दीक्षा देगा।

धर्मो दयाविसुद्धो पव्वज्ञा सव्वसंगपरिचता ।

देवो ववगयमोहो उदयकरो भव्वजीवाणं ॥ १३३ ॥

दया से निर्मल धर्म, तमाम परिग्रहों से रहित प्रब्रज्या और सभी मोहों को नष्ट कर चुके देव ही जीवों का उदय करने वाले हैं।

वयसम्मतविसुद्धे पंचेंदियसंजदे णिराकेकखे ।

ण्हाएउ मुणी तित्थे, दिक्खासिक्खासुण्हाणेण ॥ १३४ ॥

व्रत और सम्यक्त्व से शुद्ध, पंचेन्द्रिय विषयों में संवर सहित यानी संयत, यश-सम्मान-लाभ आदि मामलों में तटस्थ (निरपेक्ष) ऐसे आत्मस्वरूप तीर्थ में मुनि को शिक्षा दीक्षा रूप स्नान करना चाहिए।

जं णिम्मलं सुधम्मं सम्मतं संजमं तवं णाणं ।

तं तित्थं जिणमगे हवेइ जदि सतिभावेण ॥ १३५ ॥

जिनमत में निर्मल श्रेष्ठ धर्म (उत्तम क्षमा आदि), सम्यग्दर्शन, संयम, तप और ज्ञान ही तीर्थ हैं और ये भी तभी तीर्थ हैं जब हम शान्त भाव से बिना कषायों के इन्हें अपने जीवन में उतारें।

णामे ठवणे हि य संदव्वे भावे हि सगुणपज्ञाया ।

चउणागदि संपदिमं भावा भावंति अरहंतं ॥ १३६ ॥

नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव, स्वगुण, पर्याय, च्यवन, आगति और सम्पदा ये तमाम भाव अरिहन्त का परिचय देते हैं।

दंसण अणंतणाणे मोकखो णट्टुकम्मबंधेण ।  
णिरुवमगुणमारूढो अरहंतो एरिसो होइ ॥ १३७ ॥

अरिहन्त अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान से सम्पन्न होते हैं। वे आठ कर्मबन्धनों को नष्ट कर लेने के कारण मोक्ष तथा अनुपम गुणों से भी सम्पन्न होते हैं।

जरवाहिजम्ममरणं चदुगदिगमणं च पुण्णपावं च ।  
हंतूण दोसकम्मे हुउ णाणमयं च अरहंतो ॥ १३८ ॥

अरिहन्त बुढ़ापे, रोग, जन्म-मरण, चारों गतियों में गमन (भटकाव), पुण्य-पाप तथा दोषों को उत्पन्न करने वाले कर्मों को नष्ट कर चुके होते हैं और केवल ज्ञानमय होते हैं।

गुणठाणमगणेहि य पञ्जतीपाणजीवठाणेहि ।  
ठावण पंचविहेहिं पणयव्वा अरहपुरिसस्स ॥ १३९ ॥

गुणस्थान, मार्गणास्थान, पर्याप्ति, प्राण तथा जीवस्थान इन पाँच प्रकारों से अरिहन्त की स्थापना करनी चाहिए।

तेरहमे गुणठाणे सजोइकेवलिय होइ अरहंतो ।  
चउतीस अदिसयगुणा होंति हु तस्सद्व पडिहारा ॥ १४० ॥

सयोग केवली अरिहन्त तेरहवें में गुण स्थान में होते हैं। उनके चौंतीस अतिशय और आठ प्रातिहार्य होते हैं।

गइ इंदियं च काए जोए वेए कसाय णाणे य ।  
संजम दंसण लेसा भविया सम्मत्त सण्णि आहारे ॥ १४१ ॥

गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञी तथा आहार ये चौदह मार्गणा हैं।

आहारो य सरीरो तह इंदियआणपाणभासा य ।  
पञ्चत्तिगुणसमिद्धो उत्तमदेवो हवइ अरहो ॥ १४२ ॥

आहार, शरीर, इन्द्रिय, मन, आन प्राण और भाषा इन छह पर्याप्ति गुणों से अरिहन्त देव समृद्ध होते हैं।

पंच वि इंदियपाणा मणवयकाएण तिण्णि बलपाणा ।  
आणप्पाणप्पाणा आउगपाणेण होंति दहपाणा ॥ १४३ ॥

पाँच इन्द्रिय प्राण, मन-वचन और काय के तीन बल, एक श्वासोच्छ्वास तथा एक आयु इन दस प्राणों से अरिहन्त की स्थापना है।

मणुयभवे पंचिंदिय जीवट्टाणेसु होइ चदुदसमे ।  
एदे गुणगणजुत्तो गुणमारुढो हवइ अरहो ॥ १४४ ॥

अरिहन्त मनुष्यभव में पंचेन्द्रिय और जीवस्थानों में चौदहवें स्थान में होते हैं। वे गुण समूह से युक्त हैं और गुणस्थानों में उनका स्थान चौदहवाँ है।

जरवाहिदुक्खरहियं आहारणिहारवज्जियं विमलं ।  
सिंहाण खेल सेओ णत्थि दुगंछा य दोसो य ॥ १४५ ॥

अरिहन्त की देह वृद्धावस्था, रोग, दुःख, आहार, नीहार, श्लेष्म, थूक, पसीना और दुर्गन्ध जैसे दोषों से रहित और निर्मल होती है।

दसपाणा पञ्चती अठुसहस्रा य लक्खणा भणिया ।  
गोखीरसंखधवलं मंसं रुहिरं च सव्वंगे ॥ १४६ ॥

अरिहन्त के दस प्राण, पूर्ण पर्याप्ति और एक हजार आठ लक्षण होते हैं। उनकी देह में दूध तथा शंख के समान धवल मांस और रक्त होता है।

एरिसगुणेहिं सब्वं अइसयवंतं सुपरिमलामोयं ।

ओरालियं च कायं णायव्वं अरहपुरिसस्स ॥ १४७ ॥

इस प्रकार अरिहन्त की देह उपर्युक्त गुणों के कारण अतिशयमय तथा परिमल की गन्धमय होती है।

मयरायदोसरहिओ कसायमलवज्जिओ य सुविसुद्धो ।

चित्तपरिणामरहिदो केवलभावे मुणेयव्वो ॥ १४८ ॥

अरिहन्त में मद, राग जैसे दोष नहीं होते। वे कषायों से मुक्त होते हैं। विशुद्ध होते हैं और मनोविकारों से परे होते हैं। दरअसल एक केवलज्ञान ही उनकी पहचान है।

सम्मदंसणि पस्सदि जाणदि णाणेण दव्वपञ्जाया ।

सम्मत्तगुणविसुद्धो भावो अरहस्स णायव्वो ॥ १४९ ॥

अरिहन्त सम्यगदर्शन द्वारा सम्पूर्ण अस्तित्व को देखते हैं और सम्यज्ञान द्वारा तमाम द्रव्य पर्यायों को जानते हैं। वे अपने सम्यकत्व गुण के कारण पूर्णतः निर्मल होते हैं।

सुण्णहरे तरुहिङ्के उज्जाणे तह मसाणवासे वा ।

गिरिगुह गिरिसिहरे वा भीमवणे अहव वसिते वा ॥ १५० ॥

सूने घर, वृक्षमूल के कोटर, उद्यान, श्मशान भूमि, पर्वत की गुफा या उसकी चोटी, भयानक वन अथवा वस्तिका में दीक्षा धारण किए हुए मुनि ठहर सकते हैं।

सवसासतं तित्थं वचचइदालत्यं च वुत्तेहिं ।  
जिणभवणं अह वेजझं जिणमगे जिणवरा विंति ॥ १५१ ॥

पंचमहव्यजुत्ता पंचिंदियसंजया णिरावेकखा ।  
सजझाझाणजुत्ता मुणिवरवसहा णिइच्छन्ति ॥ १५२ ॥

स्वाधीन प्रदेश, तीर्थ, वच, चैत्य, आलय, जिनभवन आदि जिन स्थानों में जिनमतानुसार जिनवर का ध्यान करना सम्भव हो उन्हीं स्थानों को पंचमहाब्रतधारी, पाँचो इन्द्रियों का संयम रखने वाले, सर्वथा निरपेक्ष, स्वाध्याय और ध्यान में लीन श्रेष्ठ मुनि विशेष पसन्द करते हैं।

गिहगंथमोहमुक्ता वावीसपरीसहाजि अकसाया ।  
पावारंभविमुक्ता पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥ १५३ ॥

जो व्यक्ति घर और परिग्रह के मोह से मुक्त हो सके, बाईस परीषहों को सह सके, जिसने कषायों को जीत लिया हो और जो पाप रूप आरम्भ से खुद को बचा सके वही जिनदीक्षा का पात्र है।

धणधण्णवत्थदाणं हिरण्णसयणासणाइ छत्ताइ ।  
कुदाणविरहरहिया पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥ १५४ ॥

दीक्षा में धन, धान्य, वस्त्र, स्वर्ण, शयन, आसन, छत्र आदि का दान करना कुदान है। दीक्षा तो इनसे रहित होती है।

सत्तूमिते य समा पसंसणिंदा अलद्धिलद्धिसमा ।  
तणकणए समभावा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥ १५५ ॥

दीक्षा में शुत्र-मित्र, निन्दा, प्रशंसा, अलाभ-लाभ और तृण-स्वर्ण में समभाव रखना होता है।

उत्तममज्जिमगेहे दारिद्रे ईसरे णिरावेकखा ।

सञ्चत्थ गिहिदपिंडा पञ्चज्ञा एरिसा भणिया ॥१५६॥

आहार देने वाला चाहे गऱीब हो या अमीर, उसका घर चाहे बड़ा हो या मध्यम, प्रब्रज्या (दीक्षा) में सभी के प्रति निरपेक्ष भाव रहता है और सब जगह आहार लिया जा सकता है।

णिगंथा णिस्संगा णिम्माणासा अराय णिदोसा ।

णिम्मम णिरहंकारा पञ्चज्ञा एरिसा भणिया ॥ १५७ ॥

प्रब्रज्या परिग्रह, स्त्रीसंग, मानकषाय, अपेक्षाओं, द्वेष, ममत्व, अहंकार आदि से रहित होती है।

णिणेहा णिल्लोहा णिम्मोहा णिव्वियार णिक्कलुसा ।

णिब्भय णिरासभावा पञ्चज्ञा एरिसा भणिया ॥ १५८ ॥

प्रब्रज्या में किसी द्रव्य विशेष के प्रति लगाव, लोभ, मोह, विकार, कलुष, भय और प्राप्ति की आशा नहीं होती।

जहजायरूवसरिसा अवलंबियभुय णिराउहा संता ।

परकियणिलयणिवासा पञ्चज्ञा एरिसा भणिया ॥ १५९ ॥

बच्चा जिस नग्न रूप में जन्म लेता है वही रूप/ वेश प्रब्रज्या में होता है, कायोत्सर्ग मुद्रा धारण करने से भुजाएं लम्बायमान रहती हैं, कोई हथियार पास में नहीं होता, शान्त भंगिमा होती है और दूसरों की बनाई हुई वस्तिका आदि में निवास करना होता है।

उवसमखमदमजुत्ता सरीरसक्कारवज्जिया रूकखा ।

मयरायदोसरहिया पञ्चज्ञा एरिसा भणिया ॥ १६० ॥

कर्मक्षय, क्षमा और इन्द्रियनिग्रह से युक्त होना, श्रृंगारविहीन देह का रूखा होना और मद तथा राग आदि दोषों से रहित होना प्रब्रज्या के लक्षण हैं।

विवरीयमूढभावा पणठुकम्मठु णठुमिच्छत्ता ।

सम्मत्तगुणविसुद्धा पञ्चज्ञा एरिसा भणिया ॥ १६१ ॥

प्रब्रज्या में अज्ञान भाव नहीं रहता, मिथ्यात्व एवं आठ प्रकार के कर्म नष्ट रहते हैं और सम्यगदर्शन के कारण भाव विशुद्धि बनी रहती है।

जिणमगे पञ्चज्ञा छहसंहणणेसु भणिय णिगंथा ।

भावंति भञ्चपुरिसा कम्मक्खयकारणे भणिया ॥ १६२ ॥

जिनमार्ग में छह प्रकार के संहननवाले जीवों में प्रब्रज्या सम्भव है। वह तमाम परिग्रहों से रहित है। इसलिए भव्यजनों को चाहिए कि वे कर्मक्षय के लिए प्रब्रज्या का भावन करें।

तिलतुसमत्तणिमित्त समबाहिरण्डसंगहो णत्थि ।

पञ्चज्ञ हवइ एसा जह भणिया सञ्चदरिसीहिं ॥ १६३ ॥

प्रब्रज्या में तिल के तुष बराबर भी बाह्य परिग्रह नहीं है। सर्वज्ञदेव जिनेन्द्र भगवान् ने प्रब्रज्या को इसी रूप में प्रतिपादित किया है।

उवसगपरिसहस्रा णज्जणदेसे हि णच्च अत्थइ ।

सिल कट्टे भूमितले सब्वे आरुहइ सब्वत्थ ॥ १६४ ॥

प्रब्रज्या में उपसर्ग (देव, मनुष्य, तिर्यच, अचेतन कृत उपद्रव) और परीषह (दैव कर्मयोग से घटित होने वाले बाईंस परीषह) को सहन करना पड़ता है। सदैव निर्जन प्रदेश में रहना होता है और चट्टान, काष्ठ, भूतल परं ही सर्वत्र बैठना, सोना पड़ता है।

पसुमहिलसंदसंगं कुसीलसंगं ण कुणइ विकहाओ  
सज्जायझाणजुता पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥ १६५ ॥

प्रब्रज्या में पशु, महिला, नपुंसक और व्याभिचारी व्यक्ति की संगति से बचना होता है। विकथाएं (स्त्री, राजा, भोजन, चोर आदि की कथाएं) नहीं करनी होतीं। स्वाध्याय और ध्यान में ही लीन रहना होता है।

तववयगुणेहिं सुद्धा संजमसम्मतगुणविसुद्धा य ।  
सुद्धा गुणेहिं सुद्धा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥ १६६ ॥

जिस प्रब्रज्या में तपस्या, पंचमहाब्रतों का परिपालन, विभिन्न गुण, संयम और सम्यकत्व हो वह शुद्ध होती है। प्रब्रज्या में प्रब्रज्या के स्वयं के गुणों से शुद्धता आती है, बाह्य दिखावे से नहीं।

एवं आयत्तगुपज्जता बहुविसुद्धसम्मते ।  
णिगंथे जिणमगे संखेवेणं जहाखादं ॥ १६७ ॥

इस प्रकार बाह्य आभ्यन्तर परिग्रहों को व्यर्थ मानने वाले और विशुद्ध सम्यकत्व को शिरोधार्य करने वाले जिन मार्ग में प्रब्रज्या के ठौर मुनियों के गुणों का संक्षेप में प्रतिपादन किया गया।

रुवत्थं सुद्धत्थं जिणमगे जिणवरेहिं जह भणियं ।

भव्वजणबोहणत्थं छक्कायहियंकरं उत्तं ॥ १६८ ॥

आध्यन्तर में शुद्ध भावों से भरे हुए मोक्षमार्ग के बाह्य स्वरूप को जिनेन्द्र भगवान् ने जैसा कहा है, आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि वैसा ही मैंने उसका विवेचन किया ताकि भव्य जीवों का उद्बोधन हो और षट्काय जीवों का हित हो सके।

सद्वियारो हूओ भासासुतेसु जं जिणे कहियं ।

सो तह कहियं णायं सीसेण य भद्रबाहुस्स ॥ १६९ ॥

शब्द के रूप परिवर्तन से उत्पन्न भाषा सूत्रों में जिनेन्द्र भगवान् ने जो कुछ कहा है उसे भद्रबाहु ने वैसा ही ग्रहण किया और फिर उनके शिष्य (विशाखाचार्य) ने उसे उसी रूप में कहा।

बारसअंगवियाणं चदुदसपुव्वंगवित्तिवित्तिरणं ।

सुदणाणि भद्रबाहू गमयगुरु भगवओ जयदु ॥ १७० ॥

अन्तिम श्रुत केवली भ्रदबाहु द्वादश अंगों और चौदह पूर्वांगों के विपुल विस्तार के ज्ञाता हैं। वे सूत्रों का यथावत् अर्थ करते हैं। उन पूज्य भगवान् भद्रबाहु को मैं कुन्दकुन्द नमन करता हूँ। उनकी जय हो।

## भावपाहुड (भावप्राभृतम्)

णमिऊण जिणवरिंदे णरसुरभवणिंदवंदिए सिद्धे ।

वोच्छामि भावपाहुडमवसेसे संजदे सिरसा ॥ १७१ ॥

तीर्थकरों, सिद्धों तथा शेष (अर्थात् आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधु) को, जो मनुष्यों, देवताओं तथा पाताललोक के देवों और इन सबके इन्द्रों द्वारा वन्दित हैं मैं कुन्दकुन्द सिर झुकाकर वन्दना करके भावपाहुड की रचना में प्रवृत्त होता हूँ।

भावो हि पढमलिंगं ण दव्वलिंगं च जाण परमत्थं ।

भावो कारणभूदो गुणदोसाणं जिणा बेन्ति ॥ १७२ ॥

भाव की सत्ता ही सर्वोपरि है। जिनेन्द्र भगवान् का कथन है कि बाह्य स्वरूप को परमार्थ नहीं समझना चाहिए।

भावविसुद्धिणिमित्तं बाहिरगंथस्स कीरए चाओ ।

बाहिरचाओ विहलो अब्भंतरगंथजुतस्स ॥ १७३ ॥

भाव की विशुद्धि के लिए बाह्य परिग्रहों का परित्याग किया जाता है। लेकिन यदि आध्यन्तर में राग आदि का परिग्रह बना रहता है तो बाह्य परिग्रहों के परित्याग से कुछ नहीं होगा।

भावरहिओ ण सिज्जाइ जइ वि तवं चरइ कोडिकोडीओ ।

जम्मंतराइ बहुसो लंबियहतथो गलियवत्थो ॥ १७४ ॥

व्यक्ति भले ही हाथों को लम्बा लटकाए हुए नग्न रहकर जन्मान्तरों तक कोटि कोटि तप करता रहे लेकिन अगर उसके आध्यन्तर में भाव ही नहीं है तो उसे सिद्धि नहीं मिलेगी।

परिणाममि असुद्धे गंथे मुंचेइ बाहिरे य जई ।  
बाहिरगंथच्चाओ भावविहूणस्स किं कुणइ ॥ १७५ ॥

यदि व्यक्ति (मुनि बनकर) बाह्य परिग्रहों को छोड़ देता है लेकिन उसके भाव अशुद्ध बन रहते हैं तो ऐसे भावरहित व्यक्ति को सिर्फ बाह्य परिग्रह के त्याग से क्या मिलने वाला है?

जाणहि भावं पढमं किं ते लिंगेण भावरहिएण ।  
पंथिय सिवपुरिपंथं जिणउवइट्टं पयत्तेण ॥ १७६ ॥

हे मोक्षमार्ग के पथिक, भाव को प्राथमिक मान। जिनेन्द्र भगवान् ने मोक्ष का यही मार्ग प्रयत्नपूर्वक बताया है। भावरहित स्वरूप से तुझे क्या लेना देना ?

भावरहिएण सपुरिस अणाइकालं अणंतसंसारे ।  
गहिउज्ज्ञयाइं बहुसो बाहिरणिगंथरूवाइं ॥ १७७ ॥

हे सत्यरूप, तूने भाव रहित रहते हुए इस अनादि काल और अनन्त संसार में बाह्य परिग्रहों के स्वरूप को पता नहीं कितनी बार तो छोड़ा और कितनी बार ग्रहण किया। लेकिन तेरे हाथ कुछ भी तो नहीं आया।

भीसणणरयगईए तिरियगईए कुदेवमणुगइए ।  
पत्तो सि तिव्वदुक्खं भावहि जिणभावणा जीव ! ॥ १७८ ॥

हे जीव, तू ने भयंकर नरकगति में, तिर्यचगति में और कुदेव, कुमनुष्य गति में भारी दुःख भोगे हैं। अब तो जिनभावना अर्थात् शुद्ध, आत्मस्वरूप की भावना का भावन कर।

सत्तसु णरयावासे दारुणभीमाइं असहणीयाइं ।

भुत्ताइं सुझरकालं दुःखाइं णिरंतरं सहियं ॥ १७६ ॥

हे जीव तू सात नरकों में भ्यानक, तीव्र और असहनीय दुःखों को दीर्घ काल तक निरन्तर भोगता और सहता रहा है।

खणणुत्तावणवालणबेयणविच्छयणाणिरोहं च ।

पतो सि भावरहिओ तिरियगईए चिरं कालं ॥ १८० ॥

हे जीव, भावरहित होने के कारण तूने तिर्यच गति में चिर काल तक खनन, उत्तापन, ज्वलन, वेदन, विच्छेदन, निरोधन आदि दुःखों को झेला है।

आगंतुक माणसियं सहजं सारीरियं च चतारि ।

दुक्खाइं मणुयजम्मे पतो सि अणंतयं कालं ॥ १८१ ॥

हे जीव, मनुष्यगति में भी जन्म लेकर तू ने आकस्मिक (भूकम्प, बाढ़ आदि) मानसिक, सहज (जैसे जन्म) और शारीरिक ये चार प्रकार के दुःख पाए हैं।

सुरणिलयेसु सुरच्छरविओयकाले य माणसं तिव्वं ।

संपत्तो सि महाजस दुःखं सुहभावणारहिओ ॥ १८२ ॥

हे महान यशस्वी, शुभ भाव से रहित होने के कारण देवगति में भी तुझे देव अथवा अप्सरा के वियोग जैसा तीव्र मानसिक दुःख झेलना पड़ा है।

कंदप्पमाइयाओ पंच वि असुहादिभावणाई य ।

भाऊण दब्बलिंगी पहीणदेवो दिवे जाओ ॥ १८३ ॥

हे जीव, तू द्रव्यलिंगी मुनि होकर कन्दर्प आदि पाँच अशुभ भावनाओं से ग्रस्त रहा। फलस्वरूप स्वर्ग में तुझे प्रहीण देवता अर्थात् नीच देवता होकर उत्पन्न होना पड़ा।

पास्त्थभावणओ अणाइकालं अणेयवाराओ ।

भोऊण दुहं पत्तो कुभावणाभावबीएहिं ॥ १८४ ॥

हे जीव, अनादिकाल से अनन्त बार पाश्वर्स्थ भावना (मुनित्व को आजीविका का साधन बनाना) के कारण तुझे कुभावनाओं के बीजों से सदैव दुःख ही प्राप्त हुआ है।

देवाण गुण विहूई इडढी माहप्प बहुविहं दट्ठुं ।

होऊण हीणदेवो पत्तो बहु माणसं दुकखं ॥ १८५ ॥

हे जीव, हीन देव के रूप में जन्म लेकर भी तू अन्य देवों के गुण, विभूति, ऐश्वर्य और बहुविध माहात्म्य को देखकर अतिशय मानसिक दुःख झेलता रहा।

चउविहविकहासत्तो मयमत्तो असुहभावपयडत्थो ।

होऊण कुदेवत्तं पत्तो सि अणेयवाराओ ॥ १८६ ॥

हे जीव, तू चार प्रकार की विकथाओं में आसक्त रहा, मद में चूर रहा और अशुभ भावों को प्रकट करने के प्रयोजन से तूने अनेक बार कुदेव के रूप में जन्म लिया।

असुईबीहत्थेहि य कलिमलबहुलाहि गब्भवसहीहि ।

वसिओ सि चिरं कालं अणेयजणणीण मुणिपवर ॥ १८७ ॥

हे मुनिप्रवर, बार बार जन्म लेने से तू अनेक माताओं के अपवित्र, घिनौने और मलिन मल से भरे हुए गर्भ में बहुत समय तक रहा।

पीओ सि थणच्छीरं अणांतजम्मंतराइं जणणीणं ।

अण्णाण्णाण महाजस सायरसलिलादु अहिययरं ॥ १८८ ॥

हे महायशस्वी, अनन्त जन्मान्तरों में जन्म लेकर तूने अन्य अन्य माताओं का जितना दूध पिया वह समुद्र के जल से भी ज्यादा है।

तुह मरणे दुक्खेण अण्णणाणं अणेयजणणीणं ।

रुण्णाण णयणणीर सायरसलिलादु अहियरं ॥ १८६ ॥

तेरी मृत्यु पर अन्य अन्य अनेक माताओं के रोने से जो अश्रुजल बहा वह भी समुद्र के जल से अधिक है।

भवसायरे अणंते छिणुज्जिय केसणहरणालड्ही ।

पुञ्जइ जइ को वि जए हवदि य गिरिसमधिया रासी ॥ १८० ॥

इस अनन्त संसार सागर में विभिन्न जन्मों में तेरे जितने नाल, नख, अस्थि और केश कटे, टूटे हैं यदि कोई देवता उनका ढेर लगाए तो वह पहाड़ से भी ज्यादा बड़ा होगा।

जलथलसिहिपदणंबरगिरसरिदरितरुवणाइ सव्वत्थ ।

वसिओ सि चिरं कालं तिहुवणमज्ज्ञे अणप्पवसो ॥ १८१ ॥

अनात्म के अधीन होने के कारण तुझे तीन लोक में जल, थल, अग्नि, पवन, आकाश, पर्वत, नदी, पार्वत्य गुफा, वृक्ष, वन आदि तमाम जगहों में चिर काल तक रहना पड़ा।

गसियाइं पुगलाइं भुवणोदरवत्तियाइं सव्वाइं ।

पतो सि तो ण तितिं पुणरुतं ताइं भुञ्जंतो ॥ १८२ ॥

संसार के उदर में स्थित सभी पुद्गल स्कन्धों को तूने अपना भोज्य पदार्थ बनाया और बार बार उनका भोजन करते हुए भी तुझे तृप्ति नहीं मिली।

तिहुयणसलिलं सयलं पीयं तिण्हाए पीडिएण तुमे ।  
तो वि ण तण्हाछेओ जाओ चिंतेह भवमहणं ॥ १६३ ॥

प्यास से परेशान होकर तूने तीन लोक के सम्पूर्ण जल को पिया । तब भी तेरी प्यास नहीं बुझी । इसलिए संसार (जन्ममरण के चक्र) से मुक्त होने की बात सोच ।

गहिउज्जियाइं मुणिवर कलेवराइं तुमे अणेयाइं ।  
ताणं णत्थि पमाणं अणंतभवसायरे धीर ॥ १६४ ॥

हे मुनिवर, हे धैर्यशाली, इस अनन्त संसार सागर में तूने जितनी देहों को धारण किया और छोड़ा उसकी कोई गिनती नहीं है ।

विसबेयणरत्तकखयभयसत्थगहणसंकिलेसेणं ।  
आहारस्सासाणं णिरोहणा खिज्जाए आऊ ॥ १६५ ॥

हिमजलणसलिलगुरुयरपव्वयतरुहणपडणभंगेहिं ।  
रसविज्जोयधारण अणयपसंगेहिं विविहेहिं ॥ १६६ ॥

इय तिरियमणुयजम्मे सुझरं उववज्जिऊण बहुवारं ।  
अवमिच्चुमहादुकखं तिव्वं पतो सि तं मित्त ॥ १६७ ॥

विष, वेदना, रक्तक्षय, भय, शस्त्रघात, संक्लेश भाव, आहार और श्वासनिरोध से आयु क्षीण होती है । हे मित्र, तिर्यच और मनुष्य गति में भी बहुत काल तक बहुत बार उत्पन्न होकर तुझे शीत, आग और जल से, पेड़ और पहाड़ पर चढ़कर गिरने से, शरीर भंग होने से, पारा आदि भोजन में आ जाने से और अनीतिकर कार्यों के संयोग से असमय मृत्यु का भी महान दुःख झेलना पड़ा ।

छतीस तिणि सया छावद्धिसहस्रवारमरणाणि ।

अंतोमुहुत्तमज्ज्ञे पतो सि निगोयवासम्मि ॥ १६८ ॥

निगोद में वास करते हुए तो तुझे एक अन्तरमुहूर्त में छियासठ हजार तीन सौ छतीस बार मरना पड़ा ।

वियलिंदए असीवी सट्ठी चालीसमेव जाणेह ।

पंचिदिय चउवीसं खुदभवंतोमुहुत्तस्स ॥ १६९ ॥

इस अन्तरमुहूर्त के जीवन में दो इन्द्रियों के अस्सी, तीन इन्द्रियों के साठ, चार इन्द्रियों के चालीस और पाँच इन्द्रियों के चौबीस तो क्षुद्र जीवन होते हैं ।

रयणतये अलद्धे एवं भमिओ सि दीहसंसारे ।

इय जिणवरेहिं भणियं तं रयणतय समायरह ॥ २०० ॥

सम्यग्दर्शन चारित्र रूप रत्नत्रय को प्राप्त नहीं करने के कारण ही तुझे इस दीर्घ संसार में परिभ्रमण करना पड़ा । इसलिए बेहतर हो कि अब तू जिनेन्द्र भगवान् द्वारा कहे गए रत्नत्रय को अपने जीवन में उतारे ।

अप्पा अप्पम्मि रओ सम्माइट्टी हवेइ फुडु जीवो ।

जाणइ तं सण्णाणं चरदिहं चारित मग्गो ति ॥ २०१ ॥

आत्मा को आत्मा में लीन करने से जीव सम्यग्दृष्टि हो जाता है । उस आत्मा को जानना सम्यग्ज्ञान है और उसे आचरण में उतारना सम्यक् चारित्र है । इस प्रकार का यह मोक्षमार्ग है ।

अण्णे कुमरणमरणं अणेयजम्मंतराइं मरिओ सि ।

भावहि सुमरणमरणं जरमरणविणासणं जीव ! ॥ २०२ ॥

हे जीव, अनेक जन्मान्तरों में तू कुमरण की मौत मरा है। अब श्रेष्ठ मरणवाली ऐसी मौत की भावना कर जिससे जन्ममरण का चक्र ही नष्ट हो जाए।

सो णत्थि दव्वसवणो परमाणुपमाणमेत्तओ णिलओ ।

जत्थ ण जाओ ण मओ तियलोयपमाणिओ सव्वो ॥ २०३ ॥

तीन लोक के विस्तार में एक परमाणु बराबर भी ऐसा प्रदेश नहीं है जहाँ द्रव्य मुनि को जन्म मरण से न गुज़रना पड़ा हो।

कालमणिंतं जीवो जम्मजरामरणपीडिओ दुक्खं ।

जिणलिंगेण वि पतो परंपराभावरहिएण ॥ २०४ ॥

द्रव्यलिंगी मुनि होने के बाद परम्परा से भी भावना में मुनित्व को उपलब्ध न करने के कारण जीव को अनन्त काल तक जन्म, जरा और मरण का दुःख उठाना पड़ा।

पडिदेससमयपुगलआउगपरिणामणामकालटुं ।

गहिउज्जियाइं बहुसो अणंतभवसायरे जीव ॥ २०५ ॥

जीव ने अनन्त भवसागर में लोकाकाश के सभी प्रदेशों, सभी समयों, सभी परिणामों, नामों और कालों में जितने भी पुद्गल स्कन्ध हैं उन सब को कितनी ही बार ग्रहण किया और छोड़ा है।

तेयाला तिण्णि सया रज्जूणं लोयखेत्परिमाणं ।

मुत्तूण्डु पएसा जत्थ ण दुरुदुल्लिओ जीवो ॥ २०६ ॥

यह लोक तीन सौ तैंतालीस रज्जु परिमाण क्षेत्र है। इसमें से आठ प्रदेशों (मेरू के नीचे गोस्तनाकार आठ प्रदेश) को छोड़कर ऐसा कोई प्रदेश नहीं रहा जिसमें जीव जन्मा और मरा न हो।

एककेककंगुलि वाही छणवदी होंति जाण मणुयाणं ।

अवसेसे य सरीरे रोया भण कितिया भणिया ॥ २०७ ॥

मनुष्यों की एक एक उँगली में छियानवे छियानवे रोग होते हैं। तब कहिए पूरे शरीर में कितने रोग कहे जाएं।

ते रोया वि य सयला सहिया ते परवसेण पुञ्चभवे ।

एवं सहसि महाजस किं वा बहुएहिं लविएहिं ॥ २०८ ॥

हे महान यशस्वी, वे तमाम रोग तू ने पूर्व भर्वों में परवश रहते हुए भोगे हैं। अधिक कहने से क्या ? क्या इसी प्रकार फिर उन्हें भोगना चाहेगा ?

पित्तंतमुत्तफेफसकालिज्जयरुहिरखरिसकिमिजाले ।

उयरे वसिओ सि चिरं णवदसमासेहिं पत्तेहिं ॥ २०९ ॥

हे जीव, तुझे पित्त, आँत, मूत्र, फेफस (बिना मेद फूलने वाला रुधिर), कालिज्ज (कलेजा), रुधिर, खरिस (अपक्व मलयुक्त रुधिर, श्लेष्म) और कृमिजाल से वेष्टित उदर में (गर्भ में) नौ-दस माह तक रहना पड़ा।

दियसंगट्टियमसणं आहारिय मायभुत्तमण्णांते ।

छद्दिखरिसाण मज्जे जढे वसिओ सि जणणीए ॥ २१० ॥

माँ के दाँतों से चबाए हुए, उन दाँतों में लगे हुए भोजन को, जो माँ के भोजन करने के बाद उदर में गया, ग्रहण करके तुझे माँ के पेट में रहना पड़ा। वहाँ वमन के अन्न और रुधिर मिले अपक्व मल के बीच तूरहा।

सिसुकाले य अयाणे असुईमज्जम्मि लोलिओ सि तुमं ।

असुई असिया बहुसो मुणिवर बालत्तपत्तेण ॥ २११ ॥

हे मुनिवर, शिशु की अज्ञान अवस्था में तू अपवित्रताओं में लेटा रहा। शिशुपने में बहुत बार अपवित्र वस्तुएं ही तेरे खाने में आईं।

मंसट्टिसुककसोणियपित्तंतसवत्त कुणि मदुगंधं ।

खरिसवसापूय खिब्भिस भरियं चिंतेहि देहउडं ॥ २१२ ॥

और हे शुद्ध बुद्ध ज्ञानमय जीव, जरा अपनी देह के घट के बारे में सोच। माँस, हाड़, वीर्य, रक्त, पित्त और आँतें हाल ही मरे हुए व्यक्ति की तरह दुर्गन्ध देती हैं और पूरा घर खरिस (रुधिर मिला अपक्व मल), वसा (मेद), पूय (खराब खून) और कल्मष (गन्दगी ) से भरा हुआ है।

भावविमुत्तो मुत्तो ण य मुत्तो बंधवाइमित्तेण ।

इय भाविऊण उज्ज्ञसु गंधं अब्भंतरं धीर ॥ २१३ ॥

जो व्यक्ति अपने राग द्वेष के भावों से मुक्त है वही वस्तुतः मुक्त है। कुटुम्ब और मित्र आदि से मुक्त होकर व्यक्ति मुक्त नहीं होता। इसलिए हे धीर मुनि, तुझे अपनी आभ्यन्तर वासनाओं से, राग द्वेष से मुक्त होना चाहिए।

देहादिचत्तसंगो माणकसाएण कलुसिओ धीर !  
अत्तावणेण जादो बाहुबली कित्तियं कालं ॥ २१४ ॥

भगवान् ऋषभदेव के पुत्र बाहुबली से देह आदि का परिग्रह तो छूट गया था लेकिन मन मान कषाय से कलुषित बना रहा। उन्होंने कुछ समय तक कायोत्सर्ग योग भी धारण किया। (परन्तु केवल ज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई। जब मान कषाय का कलुष उनकी आत्मा से धुल गया, तब जाकर उन्हें कैवल्य की प्राप्ति हुई। इस प्रकार वे इस युग के सर्वप्रथम मोक्षगामी हुए।)

महुपिंगो णाम मुणी देहाहारादिचत्तवावारो ।

सवणत्तणं ण पत्तो णियाणमित्तेण भवियणुय ॥ २१५ ॥

मधुपिंग मुनि ने तो देह के आहार आदि को भी छोड़ दिया था। लेकिन तप के फल की चाह से उन्हें भव्य जीवों द्वारा प्रणम्य भाव श्रमणत्व प्राप्त नहीं हुआ।

अण्णं च वसिष्ठमुणी पत्तो दुक्खं णियाणदोसेण ।

सो णत्थि वासठाणो जत्थ ण दुरुदुल्लिओ जीवो ॥ २१६ ॥

दूसरे एक वसिष्ठ मुनि को भी तप के फल की चाह से दुःख ही प्राप्त हुआ। लोक में ऐसी कोई जगह नहीं है जहाँ इस जीव ने जन्ममरण के रूप में परिभ्रमण नहीं किया।

सो णत्थि तप्पएसो चउरासीलक्खजोणिवासम्मि ।

भावविरओ वि सवणो जत्थ ण दुरुदुल्लिओ जीव ॥ २१७ ॥

चौरासी लाख योनियों से परिपूर्ण इस संसार में ऐसा कोई प्रदेश नहीं है जहाँ इस जीव ने भाव से विरत होने के कारण, श्रमण (मुनि) होने के बावजूद परिभ्रमण नहीं किया हो।

भावेण होइ लिंगी ण हु लिंगी होइ दब्बमित्तेण ।  
तम्हा कुणिज्ज भाव किं कीरइ दब्बलिंगेण ॥ २१८ ॥

भाव ही मुनि की पहचान है, द्रव्य (बाह्य तामङ्गाम) नहीं। इसलिए मुनि के लिए भाव ही ग्राह्य होना चाहिए। उसके लिए द्रव्य द्वारा पहचान बनाना व्यर्थ है।

दंडयणयरं सयलं डहिओ अब्भंतरेण दोसेण ।  
जिणलिंगेण वि बाहू पडिओ सो रउरवे णरए ॥ २१९ ॥

बाहु नामक मुनि द्रव्यमुनि था। यानी मुनि के रूप में उसकी पहचान बाह्य तामङ्गाम में थी। इसलिए अपने आध्यन्तर दोष से उसने सम्पूर्ण दण्डक नगर को जलाया। उसे रौरव नरक में जाना पड़ा।

अवरो वि दब्बसवणो दंसणवरणाणचरणपब्भट्ठो ।  
दीवायणो त्ति णामो अणंतसंसारिओ जाओ ॥ २२० ॥

बाहु मुनि की तरह एक द्वैपायन मुनि भी द्रव्य मुनि हुए। वे सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्र से भ्रष्ट हुए। उन्हें अनन्त संसारी होना पड़ा। यानी वे अनन्त काल तक संसार में जन्म मरण से गुज़रते रहे।

भावसमणो य धीरो जुवईजणबेदिओ विसुद्धमुई ।  
णामेण सिवकुमारो परीत्तसंसारिओ जादो ॥२२१॥

उक्त द्रव्यमुनियों के विपरीत धैर्य और विशुद्ध मति से सम्पन्न एक शिवसागर नाम के भावमुनि हुए। स्त्रियाँ उन्हें धेरे रहती थीं। फिर भी उन्हें संसार से मुक्ति मिली।

केवलिजिणपण्णत्तं एयादसअंग सयल सुयणाणं ।  
पठिओ अभव्यसेणो ण भावसवणत्तणं पत्तो ॥२२२॥

अभव्यसेन नाम के मुनि ने तो केवली भगवान् द्वारा प्रतिपादित पूर्ण श्रुतज्ञान के ग्यारह अंगों का अध्ययन किया था। फिर भी उनमें भाव मुनित्व की चेतना नहीं जागी।

तुसमासं घोसंतो भावविसुद्धो महाणुभावो य ।  
णामेण य सिवभूई केवलणाणी फुडं जाओ ॥२२३॥

सभी जानते हैं कि शिवभूति नाम के मुनि तो सिर्फ़ तुष, माष जैसे शब्दों को ही रटने तक सीमित थे। शास्त्रों का अध्ययन तो दूर की बात है। लेकिन भावों की विशुद्धता ने उन्हें महानुभाव बनाया और केवल ज्ञान दिया।

भावेण होइ णगो बाहिरलिंगेण किं च णगेण ।  
कम्मपयडीण णियरं णासइ भावेण दव्वेण ॥२२४॥

असल नमता तो भाव से होती है। केवल बाह्य नमता से कुछ नहीं होता। भावसहित बाह्य नमता ही कर्म प्रकृति के समूह का नाश कर पाती है।

णगत्तणं अकज्जं भावणरहियं जिणेहिं पण्णत्तं ।  
इय णाऊण य णिच्चं भाविज्जहि अप्पयं धीर ॥२२५॥

जिनेन्द्र भगवान् का कथन है कि भावरहित नमता कार्यकारी नहीं होती। इसलिए हे धैर्यवान मुनि, इस कथन को समझते हुए तुम्हें निरन्तर आत्मा का ही भावन करना चाहिए।

देहादिसंगरहिओ माणकसाएहिं सयलपरिचतो ।

अप्पा अप्पमि रओ स भावलिंगी हवे साहू ॥२२६॥

जो देह आदि के परिग्रहों से तथा मानकषाय से रहित हो और आत्मा में ही लीन रहता हो वह भावलिंगी मुनि (भाव मुनि) है।

ममतिं परिवज्जामि णिम्मतिमुवड्डिदो ।

आलंबणं च मे आदा अक्सेसाइं वोसरे ॥२२७॥

भावलिंगी मुनि पर-द्रव्यों से ममत्व त्याग कर निर्ममत्व अंगीकार कर लेता है। वह सोचता है कि अब आत्मा ही मेरा अवलम्ब है। मैं शेष सभी कुछ छोड़ता हूँ।

आदा खु मज्ज णाणे आदा मे दंक्षणे चरित्ते य ।

आदा पच्चकखाणे आदा मे संवरे जोगे ॥२२८॥

वह सोचता है, मेरे ज्ञान में, मेरे दर्शन में, मेरे चारित्र में, मेरे प्रत्याख्यान (भावी दोष निवारण), संवर (कर्म के आस्रव का निरोध) और योग (समाधि ध्यान) में भी आत्मा ही तो है।

एगो मे सस्सदो अप्पा णाणदंसलकखणो ।

सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलकखणा ॥२२९॥

वह सोचता है, एक ज्ञानदर्शन स्वरूप आत्मा ही मेरी है। शेष सभी भाव मुझसे बाह्य हैं, पर-द्रव्य हैं।

भावेह भावसुद्धं अप्पा सुविशुद्धणिम्मलं चेव ।

लहु चउगइ चइऊणं जइ इच्छह सासयं सुकखं ॥२३०॥

हे मुनिजनों, यदि चार गति रूप संसार से शीघ्र ही छूटकर शाश्वत सुख की इच्छा है तो भाव में शुद्ध निर्मल और विशुद्ध आत्मा का भावन करो।

जो जीवो भावंतो जीवसहावं सुभावसंजुत्तो ।  
सो जरमरणविणासं कुणइ फुडं लहइ णिव्वाणं ॥२३१॥

जो व्यक्ति शुद्ध स्वभाव से युक्त आत्मा के स्वभाव का भावन करता है वह बुद्धापे और मौत का विनाश करने में समर्थ होता है और उसे असन्दिग्ध रूप से निर्वाण की प्राप्ति होती है।

जीवो जिणपण्णत्तो णाणसहाओ य चेयणासहिओ ।  
सो जीवो णायव्वो कम्मकखयकरणणिमित्तो ॥२३२॥

जिनेन्द्र भगवान् ने आत्मा को ज्ञान स्वभावी और चेतना सम्पन्न बताया है। कर्मक्षय की निमित्त ऐसी आत्मा को ज़रूर जानना चाहिए।

जेसिं जीवसहावो णत्थि अभावो य सव्वहा तत्थ ।  
ते होंति भिण्णदेहा सिद्धा वचिगोयरमदीदा ॥२३३॥

जो व्यक्ति आत्मा के अस्तित्व में विश्वास करते हैं, उसका अभाव नहीं मानते वे देह से विलग होकर वचन अगोचर (अनिर्वचनीय) सिद्ध होते हैं।

अरसमरूवमगंधं अव्वतं चेदणागुणमसदं ।  
जाण अलिंगगहणं जीवमणिद्विसंठाणं ॥२३४॥

आत्मा रस, रूप, गन्ध, शब्द और गोचरता से परे है। चेतना गुण से सम्पन्न है। उसका कोई चिह्न और निर्धारित आकार-प्रकार नहीं है।

भावहि पंचपयारं णाणं अण्णाणणासणं सिध्धं ।

भावणभावियसहिओ दिवसिवसुहभायणो होइ ॥२३५॥

हे जीव, अज्ञान का नाश करने वाले पाँच प्रकार के ज्ञान (मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्यायी और केवल ज्ञान) का भावन शीघ्र और भावना के साथ करो ताकि तुम स्वर्ग, मोक्ष और सुख के भाजन बन सको ।

पढिएण वि किं कीरइ किं वा सुणिएण भावरहिएण ।

भावो कारणभूदो सायारणयारभूदाणं ॥२३६॥

भाव रहित पढ़ने, सुनने से कुछ भी हासिल नहीं होता । एक मात्र भाव ही श्रावकत्व और मुनित्व का आधार है ।

दब्वेण सयल णगा णारथतिरिया य सयलसंघाया ।

परिणामेण असुद्धा ण भावसवणत्तणं पत्ता ॥ २३७ ॥

बाह्य रूप में तो सभी प्राणी नम्र होते हैं । नारकी तथा तिर्यच जीव और यथा अवसर अन्य जीव जैसे मनुष्य, भी नम्र होते हैं । लेकिन भाव से अशुद्ध होने के कारण इन्हें भावमुनित्व की प्राप्ति नहीं होती ।

णगो पावइ दुकखं णगो संसारसायरे भमइ ।

णगो ण लहइ बोहिं जिणभावणवज्जिओ सुइं ॥ २३८ ॥

जीव यदि सम्यग्दर्शन ( जिन भावना ) से रहित है तो उसे नम्र रहने से कोई फल नहीं मिलेगा । उसे दुःख ही मिलेगा । वह संसार सागर में ही भ्रमण करता रहेगा । उसे बोधि ( सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-रूप स्वानुभव ) की प्राप्ति नहीं होगी ।

अयसाण भायणेण य किं ते णगोण पावमलिणेण ।

पेसुण्णहासमच्छरमायाबहुलेण सवणेण ॥२३६॥

अगर स्वभाव में दूसरों के दोष देखने की, उनकी हँसी उड़ाने की, उनसे ईर्ष्या रखने की, उनसे मायाचार करने की अतिशयता हो तो ऐसा नग्नत्व सिर्फ़ पाप से मलिन और सिर्फ़ अपयश का पात्र होता है।

पयडहिं जिणवरलिंगं अबिंभतरभावदोसपरिसुद्धो ।

भावमलेण य जीवो बाहिरसंगम्मि मयलियइ ॥ २४० ॥

भाव में मलिनता हो तो जीव बाह्य परिग्रहों में फ़ंसता रहता है। इसलिए आत्मा को शुद्ध आभ्यन्तर भावों से सम्पन्न रखते हुए ही द्रव्य मुनित्व को धारण करना चाहिए।

धम्मम्मि णिप्पवासो दोसावासो य उच्छुफूल्लसमो ।

णिप्फलणिगुणयारो णडसवणो णगरूवेण ॥२४१॥

जो मुनि धर्म में (स्वभाव में/दस लक्षण धर्म में) रमा हुआ नहीं है वह ईख के फूल के समान फल और गन्धगुण से रहित है। वह तो खाली नग्न रूप में नाच रहा है।

जे रायसंगजुत्ता जिणभावणरहियदव्वणिगंथा ।

ण लहंति ते समाहिं बोहिं जिणसासणे विमले ॥ २४२ ॥

जो मुनि राग और परिग्रह से ग्रस्त है और जिनभावना अर्थात् शुद्ध आत्मभाव से रहित है वह तो सिर्फ़ द्रव्य मुनि है। उसे जिनशासन की समाधि (ध्यान) और बोधि (सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्र-रूप मोक्षमार्ग) की प्राप्ति नहीं होती।

भावेण होइ णगो मिच्छत्ताई य दोस चइऊणं ।

पच्छा दव्वेण मुणी पयडदि लिंगं जिणाणाए ॥ २४३ ॥

मिथ्यात्व आदि दोषों को छोड़कर पहले भाव में, आध्यन्तर में नगता आनी चाहिए। जिनेन्द्र भगवान् की आज्ञा है कि उसके बाद ही द्रव्यमुनित्व (बाह्य मुनित्व / नगत्व) को धारण करना चाहिए।

भावो वि दिव्वसिवसुक्खभायणो भाववज्जिओ सवणो ।

कम्ममलमलिणचित्तो तिरियालयभायणो पावो ॥ २४४ ॥

भाव ही स्वर्ग और मोक्ष के सुख का कारण है। कोई मुनि यदि भाव से रहित है और उसका चित्त कर्ममल से मलिन है तो वह पाप स्वरूप है और उसका स्थान तिर्यचगति में है।

ख्यरामरमण्यकरंजलिमालाहिं च संथुया विउला ।

चक्ररहररायलच्छी लब्धइ बोही सुभाबेण ॥ २४५ ॥

भाव की विशुद्धता से व्यक्ति चक्रवर्ती राजाओं की उस विपुल राजलक्ष्मी को ही नहीं प्राप्त करता जिसको नमन और जिसकी स्तुति विद्याधर, देवों और मनुष्यों के हाथों की अंजलिपंक्ति करती है बल्कि बोधि (रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग) को भी प्राप्त करता है।

भावं तिविहपयारं सुहासुहं सुद्धमेव णायव्वं ।

असुहं च अट्टरउद्दं सुह धर्मं जिणवरिदेहिं ॥ २४६ ॥

जिनेन्द्र भगवान् के अनुसार भाव तीन प्रकार के हैं- शुभ, अशुभ और शुद्ध। धर्म ध्यान शुभ और आर्त तथा रौद्र ध्यान अशुभ हैं।

सुद्धं सुद्धसहावं अप्पा अप्पम्मि तं च णायवं ।

इदि जिणवरेहिं भणियं जं सेयं तं समायरह ॥ २४७ ॥

और शुद्ध ? जिनेन्द्र भगवान् का कथन है कि शुद्ध तो अपनी शुद्ध स्वभावी आत्मा ही है। वह दूर नहीं, अपने ही भीतर है। यह समझकर जो कल्याणकारक हो उसे अंगीकार करना चाहिए।

पयलियमाणकसाओ पयलियमिच्छत्तमोहसमचित्तो ।

पावइ तिहुवणसारं बोही जिणसासणे जीवो ॥ २४८ ॥

मान कषाय और मिथ्यात्व का मोह नष्ट करके जो जीव समचित्त हो जाता है वह जिनशासन में तीन लोक के सार रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग को प्राप्त करता है।

विसयविरतो समणो छद्दसवरकारणाइं भाऊण ।

तित्थयरणामकम्मं बंधइ अइरेण कालेण ॥ २४९ ॥

इन्द्रिय विषयों से विरक्त हृदय वाले मुनि को सोलहकारण भावनाएं भाने से थोड़े ही समय में तीर्थकर के नाम और प्रकृति का बन्ध हो जाता है। अर्थात् वह तीर्थकरत्व प्राप्त कर लेता है।

बारसविहतवयरणं तेरसकिरियाउ भाव तिविहेण ।

धरहि मणमत्तदुरियं णाणंकुसएण मुणिपवर ॥ २५० ॥

हे मुनिश्रेष्ठ, बारह प्रकार के तर्पों के आचरण से, मन वचन काय से तेरह प्रकार की क्रियाएं करने और ज्ञान के अंकुश से मन रूपी मदमस्त हाथी को वश में रखा जा सकता है।

पंचविहचेलचायं खिदिसयणं दुविहसंजमं भिक्खू ।  
भावं भावियपुव्वं जिणलिंगं णिम्मलं सुद्धं ॥२५१॥

शुद्ध आत्म स्वरूप का भावन, पाँच प्रकार के वस्त्रों का यानी सभी वस्त्रों का त्याग, भूमि पर शयन, दो प्रकार का संयम (इन्द्रिय और मन को वश में रखना तथा षट्काय जीवों की रक्षा करना) और भिक्षा भोजन ये निर्मल शुद्ध मुनि के लक्षण हैं।

जह रयणाणं पवरं वज्जं जह तरुणाण गोसीरं ।  
तह धम्माणं पवरं जिणधम्मं भाविभवमहणं ॥२५२॥

जैसे रत्नों में श्रेष्ठ रत्न हीरा है, पेड़ों में श्रेष्ठ पेड़ चन्दन है वैसे ही धर्मों में श्रेष्ठ धर्म जिनधर्म है। वह अगले संसार का, अगले जन्म का विचार करता है।

पूयादिसु वयसहियं पुण्णं हि जिणेहिं सासणे भणियं ।  
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो ॥२५३॥

जिनेन्द्र भगवान् का कथन है कि जिन शासन में पूजा आदि ब्रत रखना तो पुण्य है और मोह तथा क्षोभ से रहित आत्मा का शुद्ध भाव होना धर्म है।

सद्वृदि य पतेदि य रोचेदि य तह पुणो वि फासेदि ।  
पुण्णं भोयणिमित्तं ण हु सो कम्मक्खयणिमित्तं ॥२५४॥

जो व्यक्ति पुण्य पर श्रद्धा रखते हैं, उसकी प्रतीति करते हैं, उसमें रुचि लेते हैं और उसका स्पर्श करते हैं उनका वह पुण्य भोग का निमित्त है। यानी उससे उन्हें स्वर्ग जो भोग का केन्द्र है मिल सकता है। लेकिन वह पुण्य उनके कर्मक्षय का निमित्त नहीं है। यानी उन्हें मोक्ष नहीं दिला सकता।

अप्पा अप्पम्मि रओ रायादिसु सयलदोसपरिचतो ।

संसारतरणहेदू धम्मो ति जिणेहिं णिद्विङ्गुं ॥२५५॥

जिनेन्द्र भगवान् कहते हैं कि आत्मा के राग आदि सभी दोषों से रहित होकर आत्मा में ही रत होने से व्यक्ति संसार सागर से पार उतर जाता है।

अह पुण अप्पा णिच्छदि पुण्णाइं करेदि णिरवसेसाइं ।

तह वि ण पावदि सिद्धिं संसारत्थो पुणो भणिदो ॥२५६॥

जो व्यक्ति आत्मा का भावन नहीं करता और तमाम पुण्यों को करता रहता है उसे सिद्धि (मोक्ष) प्राप्त नहीं होती। जिनागम में कहा गया है कि वह अनन्त संसारी होता है।

एएण कारणेण य तं अप्पा सद्वहेह तिविहेण ।

जेण य लहेह मोकखं तं जाणिज्जह पयत्तेण ॥२५७॥

इसलिए कहते हैं कि मनवचनकाय से उस आत्मा की श्रद्धा करो, उसे प्रयत्नपूर्वक यथार्थतः समझो ताकि मोक्ष प्राप्त कर सको।

मच्छो वि सालिसित्थो असुद्धभावो गओ महाणरयं ।

इस णाउं अप्पाणं भावह जिणभावणं णिच्चं ॥२५८॥

चावल बराबर शरीर वाले छोटे से मत्स्य को भी अशुद्ध भाव के कारण सातवें नरक (महानरक) में जाना पड़ा। इसलिए जिनेन्द्र भगवान् की भावना को समझकर निरन्तर आत्मा का ही भावन करना चाहिए।

बाहिरसंगच्चाओ मिरिसरिदरिकंदराइ आवासो ।

सयलो णाणज्ञयणो णिरत्थओ भावरहियाणं ॥२५९॥

यदि व्यक्ति भाव रहित है तो उसका बाह्य परिग्रह का त्याग, पर्वत की गुफा या नदी, कन्दरा आदि स्थानों में निवास और सम्पूर्ण ज्ञान का अध्ययन निर्थक है।

भंजसु इन्दियसेणं भंजसु मणमक्कडं पयत्तेरण ।  
मा जणरंजणकरणं बाहिरवयवेस तं कुणसु ॥२६०॥

हे मुने, तू इन्द्रियों की सेना और मन रूपी वानर का प्रयत्नपूर्वक भंजन कर, बाह्य व्रतों के लोकलुभावन वेश को धारण मत कर ।

एवणोकसायवग्गं मिच्छतं चयसु भावसुद्धीए ।  
चेइयपवयणगुरुणं करेहि भर्ति जिणाणाए ॥२६१॥

हे मुने, तू नोकषाय वर्ग के सभी नौ ईषत् कषायों को तथा मिथ्यात्व को भावशुद्धि द्वारा छोड़ और जिनेन्द्र भगवान् की आज्ञा से चैत्य, प्रवचन तथा गुरु की भक्ति कर ।

तित्थयरभासियत्थं गणहरदेवेहिं गंथियं सम्मं ।  
भावहि अणुदिणु अतुलं विसुद्धभावेण सुयणाणं ॥२६२॥

हे मुने, जिस अतुलित श्रुत ज्ञान को तीर्थकर भगवान् ने कहा और जिसे गणधर देवों ने अच्छी तरह से निबद्ध किया अर्थात् जिसकी शास्त्र रूप रचना की तू उसका प्रतिदिन विशुद्ध भाव से भावन कर ।

पीऊण णाणसलिलं णिम्महतिसडाहसोसउमुक्का ।  
होंति सिवालयवासी तिहुवणचूडामणी सिद्धा ॥२६३॥

इस प्रकार ज्ञान का जल पीकर व्यक्ति उस प्यास की जलन और ताप से मुक्त हो जाता है जिसे मथना सम्भव नहीं होता । वह व्यक्ति तीन लोक का मुकुट मणि सिद्ध बनता है और मोक्ष में निवास करता है ।

दस दस दो सुपरीसह सहहि मुणी सयलकाल काएण ।

सुत्तेण अप्पमत्तो संजमघादं पमोत्तूण ॥२६४॥

हे मुने, तू बाईस परीषहों को जिन वचन में कही गई रीति के अनुसार एवं प्रमाद रहित होकर सब समय अपने शरीर से सहन कर और अपने संयम को बनाए रख ।

जह पत्थरो ण भिज्जइ परिढ्डिओ दीहकालमुदएण ।

तह साहू वि ण भिज्जइ उवसग्गपरीसहेहिंतो ॥२६५॥

जिस प्रकार बहुत समय तक जल में रहने वाले पत्थर को भी जल भेद नहीं पाता उसी प्रकार मुनि को भी उपसर्ग और परीषह भेद नहीं पाते ।

भावहि अणुवेक्खाओ अबरे पणवीसभावणा भावि ।

भावरहिएण किं पुण बाहिरलिंगेण कायव्वं ॥२६६॥

हे मुने, तू अनित्य, अशरण आदि बारह अनुप्रेक्षाओं का और पाँच महाब्रतों की जो पच्चीस भावनाएं हैं उनका भावन कर । भावरहित बाह्य मुनित्व (द्रव्य मुनित्व) के बल पर तो कुछ भी सिद्ध होने वाला नहीं है ।

सव्वविरओ वि भावहि णव य पयत्थाइं सत्त तच्चाइं ।

जीवसमासाइं मुणी चउदसगुणठाणणामाइं ॥२६७॥

हे मुने, अच्छी बात है कि तू सभी परिग्रहों आदि से विरक्त हो गया है । तो भी (भाव शुद्धि के लिए) नौ पदार्थों, सात तत्त्वों, चौदह जीव समासों और चौदह गुणस्थानों का भावन कर ।

णवविहबंभं पयडहि अब्बंभं दसविहं पमोत्तूण ।  
मेहुणसण्णासत्तो भमिओ सि भवण्णवे भीमे ॥२६८॥

हे जीव, दस प्रकार के अब्रह्म को छोड़कर नौ प्रकार के ब्रह्मचर्य को जीवन में उतार। अभी तक तो काम सेवन की अभिलाषा में अपनी आसक्ति के कारण तू भयानक संसार सागर में ही परिभ्रमण करता रहा।

भावसहिदो य मुणिणो पावइ आराहणाचउकं च ।  
भावरहिदो य मुणिवर भमइ चिरं दीहसंसारे ॥२६९॥

हे मुनिवर, भाव से युक्त मुनि आराधना चतुष्क (दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप) को प्राप्त करता है। इसके विपरीत भाव से रहित मुनि दीर्घ काल तक इस विराट संसार में परिभ्रमण करता है। यानी बार बार जन्ममरण से गुज़रता है।

पावंति भावसवणा कल्लाणपरंपराइं सोकखाइं ।  
दुकखाइं दव्वसवणा णरतिरियकुदेवजोणीए ॥२७०॥

भाव मुनि को कल्याण एवं परम्परा से युक्त सुखों की प्राप्ति होती है। इसके विपरीत द्रव्यमुनि को मनुष्य, तिर्यच और कुदेव योनि में जन्म लेकर दुःख उठाने पड़ते हैं।

छायालदोसदूसियमसणं गसिउं असुद्धभावेण ।  
पतो सि महावसणं तिरियगईए अणप्पवसो ॥२७१॥

हे मुने, तू छियालिस दोषों से दूषित आहार करता रहा और वह भी अशुद्ध भाव से करता रहा। इसलिए तुझे तिर्यच गति में जन्म लेकर पराधीनतापूर्वक महान कष्ट झेलने पड़े।

सच्चितभतपाणं गिद्धीं दप्पेणडधी पभुतूण ।  
पतो सि तिव्वदुकखं अणाइकालेण तं चिंत ॥२७२॥

हे जीव, तू ने दुर्बुद्धि होकर अतिशय लालसा एवं गर्व के कारण ऐसा आहार किया और ऐसा जल पिया जिसमें जीव थे। फलस्वरूप अनादिकाल से तुझे तीव्र दुःख मिला। अब तो थोड़ा सोच विचार कर।

कंदं मूलं बीयं पुष्पं पतादि किंचि सच्चितं ।  
असिऊण माणगव्वं भमिओ सि अणतसंसारे ॥२७३॥

ज्ञानीकन्द आदि कन्द, अदरक, मूली, गाजर आदि मूल, चना आदि बीज, नागरवेल आदि पत्र जैसी जो भी सचित (जीवयुक्त) वस्तु थी उसे तूने मान और गर्व के साथ भक्षण किया। इस कारण हे जीव, तुझे अनन्त संसार में परिभ्रमण करना पड़ा। यानी बार बार तेरा जन्ममरण हुआ।

विणयं पंचपयारं पालहि मणवयणकायजोएण ।  
अविणयणरा सुविहियं तो ततो मुतिं न पावंति ॥२७४॥

हे मुने, अविनीत को विहित मोक्ष नहीं मिलता। इसलिए मन, वचन, काय, के योग से पाँच प्रकार के विनय का पालन कर।

णियसत्तीए महाजस भत्तीराएण णिच्चकालम्मि ।  
तं कुण जिणभत्तिपरं विज्ञावच्चं दसवियप्पं ॥२७५॥

हे महायश मुने, जिनभक्ति में उत्कृष्ट और दस भेदों वाले वैयावृत्य को तू सदैव अपनी शक्ति के अनुसार और भक्तिरागपूर्वक कर।

जं किंचि कर्यं दोसं मणवयकाएहिं असुहभावेण ।  
तं गरहि गुरुसयासे गारव मायं च मोत्तूण ॥२७६॥

हे मुने, अशुभ भाव के कारण मनवचन काय से जो भी भूल तुझसे हुई हो उसे गर्व और माया त्यागकर अपने गुरु से कह।

दुज्जणवयणचडकं पिट्ठुरकडुयं सहंति सप्पुरिसा ।  
कम्ममलणासणटुं भावेण य पिम्ममा सवणा ॥२७७॥

सत् पुरुष (श्रेष्ठ मुनि/श्रावक) दुष्टों के निष्ठुर और कटु वचनों के प्रहार झेलते रहते हैं ताकि उनके कर्ममल का नाश हो सके। वस्तुतः मुनियों को कोई राग / ममत्व नहीं होता।

पावं खवइ असेसं खमाए पडिमंडिओ य मुणिपवरो ।  
खेयरअमरणराणं पसंसणीओ धुवं होइ ॥२७८॥

जो क्षमामण्डित श्रेष्ठ मुनि अपने तमाम पापों का क्षय करने में समर्थ होते हैं उनकी प्रशंसा मनुष्य ही नहीं विद्याधर देव भी करते हैं।

इय णाऊण खमागुण खमेहि तिविहेण सयल जीवाणं ।  
चिरसंचियकोहसिहिं वरखमसलिलेण सिचेह ॥२७९॥

हे क्षमागुण मुने, मैंने जो पूर्व में कहा है उस पर ध्यान देना और संसार के सभी जीवों को मन वचन काय से क्षमा करना और मुद्दत से संजोई गई अपनी क्रोधाग्नि को क्षमा के श्रेष्ठ जल से सींच डालना।

दिक्खाकालाईयं भावहि अवियारदंसणविसुद्धो ।  
उतमबोहिणिमित्तं असारसाराणि मुणिऊण ॥२८०॥

हे मुने, सार तथा असार के फर्क को समझना और उत्तम बोधि (सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र) की प्राप्ति के लिए निर्विकार, निर्मल सम्यग्दर्शन के साथ अपने दीक्षाकाल को स्मरण में लाते रहना ।

सेवहि चउविहलिंगं अब्भंतरलिंगसुद्धिमावण्णो ।  
बाहिरलिंगमकज्जं होइ फुडं भावरहियाणं ॥२८१॥

हे मुने, आभ्यन्तर मुनित्व (भावमुनित्व) की विशुद्धता को प्राप्त करने के बाद ही चार प्रकार के बाह्य मुनित्व (द्रव्यमुनित्व) पर ध्यान देना, क्योंकि आभ्यन्तर भाव के बिना बाह्य मुनित्व से कुछ भी सिद्ध नहीं होगा ।

आहारभयपरिग्रहमेहुणसणाहि मोहिओ सि तुमं ।  
भमिओ संसारवरणे अणाइकालं अणप्पवसो ॥२८२॥

हे जीव-आहार, भय, परिग्रह और मैथुन इन चार संज्ञाओं से मोहित हुए तुमने पराधीन होकर अनादि काल से संसार के वन में परिघ्रन्मण किया है ।

बाहिरसयणतावणतरुमूलाईणि उतरगुणाणि ।  
पालहि भावविशुद्धो पूयालाहं ण ईहंतो ॥२८३॥

हे मुने, शीतकाल में बाहर सोना, ग्रीष्मकाल में (पर्वत के शिखर पर सूर्य सम्मुख) आतापन योग धारण करना और वर्षाकाल में पेड़ के नीचे योग धरना ये सब परवर्ती गुण हैं । पूर्ववर्ती और पहला गुण तो भाव की विशुद्धि ही है । तू सम्मान और लाभ की इच्छा के बगैर उसे ही अपने जीवन में उतारना ।

भावहि पढमं तच्चं बिदियं तदियं चउत्थ पंचमयं ।

तियरणसुद्धो अप्पं अणाइणिहरणं तिवग्गहरं ॥२८४॥

हे मुने, जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध और संवर इन पाँच तत्त्वों का और त्रिकरण अर्थात् मनवचनकाय/कृत कारित अनुमोदना से शुद्ध होकर आदि अन्त रहित और धर्म अर्थ काम को हरने वाले आत्म स्वरूप का चिन्तन करना ।

जाव ण भावइ तच्चं जाव ण चिंतेइ चिंतणीयाइं ।

ताव ण पावइ जीवो जरमरणविवज्जियं ठाणं ॥२८५॥

हे मुने, जीव जब तक जीवादि तत्त्वों का और चिन्तन करने योग्य का चिन्तन नहीं करता तब तक उसे वृद्धावस्था और मृत्यु से रहित मोक्षस्थान की प्राप्ति नहीं होती ।

पावं हवइ असेसं पुण्णमसेसं च हवइ परिणामा ।

परिणामादो बंधो मुक्खो जिणसासणेदिङ्गो ॥२८६॥

जिनशासन में यही प्रतिपादित है कि भाव से ही अशेष पाप होता है। भाव से ही अशेष पुण्य होता है और भाव से ही बन्ध एवं मोक्ष होता है ।

मिच्छत तह कसायासंजमजोगेहिं असुहलेसेहिं ।

बंधइ असुहं कम्मं जिणवयणपरम्मुहो जीवो ॥२८७॥

योग (मन, वचन, काय की वर्गणा से आत्मप्रदेशों का संकोच-विस्तार), मिथ्यात्व, कषाय और असंयम में अशुभ लेश्या होती है। इसलिए इन भावों से जीव जिनेन्द्र भगवान् के वचनों से विमुख होता है और अशुभ कर्म को बाँधता है।

तत्त्विवरीओ बंधइ सुहकम्म भावसुद्धिमावणो ।

दुविहपयारं बंधइ संखेपेणेव वज्जरियं ॥२८८॥

पूर्वोक्त के विपरीत, भावों से विशुद्ध जीव को शुभ कर्म का बन्ध होता है। संक्षेप में ये दो प्रकार के जीव क्रमशः अशुभ और शुभ कर्म को बाँधते हैं।

णाणावरणादीहिं य अट्ठहिं कम्मेहिं वेढिओ य अहं ।

डहिऊण इण्हि पयडमि अणंतणाणाइगुणचित्तां ॥२८९॥

हे मुनिवर, तू यह भावना कर कि मैं ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से घिरा हुआ हूँ। इसलिए इनको भस्म करके अनन्त ज्ञान आदि गुणों से सम्पन्न अपने निज स्वरूप की चेतना को प्रकट करूँ।

सीलसहस्रडारस चउरासीगुणगणाण लक्खाइं ।

भावहि अणुदिणु णिहिलं असप्पलावणे किं बहुणा ॥२९०॥

शील के अठारह हजार भेद हैं और उत्तर गुणों की संख्या चौरासी लाख है। हे मुने, तू इन सबका निरन्तर भावन कर और निरर्थक वचनों में मत उलझा।

झायहि धम्मं सुक्षं अट्ठ रउदं च झाण मुत्तूण ।

रुद्धु झाइयाइं इमेण जीवेण चिरकालं ॥२९१॥

हे मुने, आर्त और रौद्र ध्यान को छोड़कर धर्म्य शुक्ल ध्यान कर। आर्त और रौद्र ध्यान तो तेरा जीव बहुत समय तक कर चुका है।

जे के वि दव्वसवणा इंदियसुहआउला ण छिंदंति ।  
छिंदंति भावसवणा झाणकुढारेहिं भवरुकखं ॥ २६२ ॥

ये जो इन्द्रिय सुख के लिए व्याकुल द्रव्यमुनि हैं ये संसार रूपी वृक्ष को नहीं काट सकते। इस वृक्ष को तो सिर्फ़ भावमुनि ही ध्यान के कुलहाड़े से काटते हैं।

जह दीवो गब्भहरे मारूयबाहाविवज्जिओ जलइ ।  
तह रायाणिलरहिओ झाणपईवो वि पज्जलइ ॥ २६३ ॥

जैसे मध्य के घर (गर्भगृह) में हवा की बाधा से रहित होकर दीपक जलता है वैसे ही ध्यान का दीपक राग रूपी हवा से रहित होकर जलता है।

झायहि पंच वि गुरवे मंगलचउसरणलोयपरियरिए ।  
णरसुरखेयरमहिए आराहणायगे वीरे ॥ २६४ ॥

हे मुने, तू पंचगुरु अर्थात् पंच परमेष्ठी का ध्यान कर/पंच परमेष्ठी ही मंगलकारी हैं, चार शरण और चार लोकोत्तम (अरिहन्त, सिद्ध, साधु, केवली प्रणीत धर्म) से युक्त हैं, नर सुर विद्या धर सहित हैं, पूज्य हैं, आराधना (दर्शन ज्ञान चारित्र तप) के नायक हैं और वीर हैं।

णाणमयविमलसीयलसलिलं पाऊण भविय भावेण ।  
वाहिजरमरणवेयणडाहविमुक्ता सिवा होंति ॥ २६५ ॥

ज्ञानमय निर्मल शीतल जल का सम्यक्त्व भाव से उपयोग करके भव्यजीव रोग, वृद्धावस्था, मृत्यु वेदना और दाह से मुक्त होते हैं और शिव अर्थात् परमानन्द स्वरूप हो जाते हैं।

जह बीयम्मि य दइठे ण विरोहइ अकुरो य महिवीठे ।

तह कम्मबीयदइठे भवंकुरो भावसवणाणं ॥ २६६ ॥

बीज जल जाये तो फिर उससे पृथ्वी पर अंकुर नहीं फूटता। इसी प्रकार भावमुनियों के जले हुए कर्मबीज से संसार (जन्ममरण) रूपी अंकुर नहीं फूटता।

भावसवणो वि पावइ सुकखाइं दुहाइं दव्वसवणो य ।

इय णाउं गुणदोसे भावेण य संजुदो होइ ॥ २६७ ॥

भावमुनि को सुख और द्रव्यमुनि को दुःख मिलता है। इस प्रकार गुणदोष देखकर भाव से ही संयुक्त होना चाहिए।

तित्थयरगणहराइं अब्धुदयपरंपराइं सोकखाइं ।

पावंति भावसहिया संखेवि जिणेहिं वज्जरियं ॥ २६८ ॥

जिनेन्द्र भगवान् ने बहुत संक्षेप में संकेत किया है कि भावसहित मुनि अभ्युदय परम्परा से तीर्थकर, गणधर आदि पदों के सुखों को प्राप्त करते हैं।

ते धण्णा ताण णमो दंसणवरणाणचरणसुद्धाणं ।

भावसहियाण णिच्चं तिविहेण पण्डुमायाणं ॥ २६९ ॥

जो मुनि सम्यग्दर्शन, श्रेष्ठ ज्ञान और निर्दोष चारित्र से विशुद्ध हैं, भाव सहित हैं और जिनके कपट भाव पूर्णतः नष्ट हो गए हैं वे धन्य हैं। मैं कुन्दकुन्द मनवचनकाय से सदैव उन्हें नमन करता हूँ।

इडिठमतुलं वित्त्विय किण्णरकिंपुरिसअमरखयरेहिं ।

तेहिं वि ण जाइ मोहं जिणभावणभाविओ धीरो ॥ ३०० ॥

सम्यग्दर्शन से सम्पन्न जीव किन्नरों, किंपुरुष देवों, कल्पवासी देवों और विद्याधरों द्वारा विक्रिया रूप से फैलाई गई अतुल ऋद्धियों के भी मोह में नहीं पड़ता।

किं पुष्प गच्छइ मोहं णरसुरसुकखाण अप्पसाराणं ।

जाणंतो पस्संतो चिंतंतो मोक्ख मुणिधवलो ॥ ३०१ ॥

तो फिर मोक्ष को जानता, देखता और उसका चिन्तवन करता श्रेष्ठ मुनि भला मनुष्य और देवताओं के स्वरूप सारवाले सुखों के मोह में क्यों पड़ेगा ?

उत्थरइ जा ण जरओ रोयगी जा ण डहइ देहउडिं ।

इन्दियबलं ण वियलइ ताव तुमं कुणहि अप्पहियं ॥ ३०२ ॥

हे मुने, जब तक बुढ़ापे का आक्रमण नहीं होता, जब तक रोगों की अग्नि तेरी देह रूपी कुटिया को भस्म नहीं करती, जब तक तेरी इन्द्रियों की शक्ति क्षीण नहीं होती तब तक आत्महित कर ले ।

छज्जीव छडायदणं णिच्चं मणवयणकायजोएहिं ।

कुरु दय परिहर मुणिवर भावि अपुञ्चं महासतं ॥ ३०३ ॥

हे मुने, षट्काय जीवों पर दया करने का कार्य तथा छह अनायतनों को छोड़ने का कार्य मनवचनकाय से कर और अद्भुत आत्मस्वरूप का चिन्तवन कर ।

दसविहपाणाहारो अणंतभवसायरे भसंतेण ।

भोयसुहकारणटुं कदो य तिविहेण सयलजीवाणं ॥ ३०४ ॥

हे मुने, तू ने अनन्त संसार सागर में परिभ्रमण करते हुए अपने सुख के लिए मनवचनकाय से समस्त जीवों के दस प्रकार के प्राणों का आहार किया है ।

पाणिवहेहि महाजस चउरासीलक्खजोणिमज्ञम्मि ।

उप्पजंत मरंतो पत्तो सि णिरंतरं दुक्खं ॥ ३०५ ॥

हे महायश मुने, जीवों के वध के कारण तू ने चौरासी लाख योनियों में जन्म लेते हुए और मृत्यु को प्राप्त होते हुए निरन्तर दुःख ही पाया है ।

जीवाणमभयदाणं देहि मुणी पाणिभूयसत्ताणं ।

कल्लाणसुहणिमित्तं परंपरा तिविहसुद्धीए ॥ ३०६ ॥

हे मुने, तू जीवों और प्राणीभूत सत्त्वों को क्रमिक कल्याण और सुख के लिए मनवचनकाय की शुद्धतापूर्वक अभयदान दे।

असियसय किरियवाई अक्षिरियाणं च होइ चुलसीदी ।

सत्तड्डी अण्णावी वेणईया होंति बत्तीसा ॥ ३०७ ॥

मिथ्यात्व के तहत क्रियावादियों के एक सौ अस्सी, अक्रियावादियों के चौरासी, अज्ञानियों के सढ़सठ और विनयवादियों के बत्तीस भेद हैं।

ण मुयइ पयडि अभव्वो सुट्ठु वि आयणिऊण जिणधम्मं ।

गुडदुद्धं पि पिबंता ण पण्णया णिव्विसा होंति ॥ ३०८ ॥

जिनधर्म को भली प्रकार सुनकर भी अभव्य जीव अपनी प्रकृति को नहीं छोड़ते। सच है कि गुड़ पड़ा दूध पीते हुए भी साँप विषरहित नहीं होते।

मिच्छतछण्णदिड्डी दुद्धीए दुम्मएहिं दोसेहिं ।

धम्मं जिणपण्णतं अभव्वजीवो ण रोचेदि ॥ ३०९ ॥

बुरे मतों की दोषजन्य दुर्बुद्धि से और मिथ्यात्व से आच्छादित दृष्टिवाले अभव्य जीव को जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्रतिपादित धर्म अच्छा नहीं लगता।

कुच्छियधम्ममि रओ कुच्छियपासंडिभत्तिसंजुतो ।

कुच्छियतवं कुणंतो कुच्छियगइभायणो होइ ॥ ३१० ॥

मिथ्या धर्म तथा मिथ्या पाखण्डियों की भक्ति में लगा हुआ और मिथ्या तप करता हुआ व्यक्ति मिथ्या गति यानी दुर्गति का ही शिकार बनता है।

इय मिच्छतावासें कुणयकुसत्थेहि॑ मोहिओ जीवो ।

भमिओ अणाइकालं संसारे धीर चिंतेहि ॥ ३११ ॥

इस प्रकार कुत्सित नीति और कुत्सित शास्त्रों के मोह में फँसा हुआ यह जीव मिथ्या दृष्टियों के इस संसार में अनादिकाल से परिभ्रमण कर रहा है। हे धैर्यवान मुने, तुझे इस सन्दर्भ में विचार करना चाहिए।

पासंडी तिणि सया तिसडि॑ भेया उमग्ग मुत्तूण ।

रुं भहि॑ मणु जिणमग्गे असप्पलावेण किं बहुणा ॥ ३१२ ॥

हे जीव, बस इतना कर कि पाखण्डियों के तीन सौ त्रेसठ भेदोंवाले उन्मार्ग को छोड़कर जिनमार्ग में अपना मन लगा। प्रलापपूर्वक और निर्थक अधिक कहने से क्या ?

जीवविमुक्तो सबओ दंसणमुक्तो य होइ चलसबओ ।

सबओ लोयअपुज्जो लोउत्तरयम्मि चलसबओ ॥ ३१३ ॥

जीव रहित व्यक्ति मुर्दा है तो सम्यग्दर्शन रहित व्यक्ति चलता फिरता मुर्दा है। मुर्दा संसार में और चलता-फिरता मुर्दा लोकोत्तर में अपूज्य होता है।

जह तारयाण चंदो मयराओ मयउलाण सब्बाण ।

अहिओ तह सम्मतो रिसिसावयदुविहधम्माण ॥ ३१४ ॥

जैसे नक्षत्रों पर चन्द्रमा और तमाम पशुसमूह पर शेर भारी पड़ता है वैसे ही मुनि और श्रावक इन दो प्रकार के धर्मों पर सम्यक्त्व भारी पड़ता है।

जह फणिराओ सोहइ फणमणिमाणिक्ककिरणविष्फुरिओ ।

तह विमलदंसणधरो जिणभत्ती पयवणे जीवो ॥ ३१५ ॥

फन में लगे हुए मणिमाणिक्य ही विस्फुरित किरणों से जैसे नागेन्द्र (धरणेन्द्र) शोभा पाता है वैसे ही जिनभक्ति और निर्मल सम्यगदर्शन का धारक जीव जिनशासन में शोभा पाता है।

जह तारायणसहियं ससहरबिंबं खमंडले मिवले ।

भाविय तववयविमलं जिणलिंगं दंसणविसुद्धं ॥ ३१६ ॥

जैसे तारों के साथ चन्द्रमा के बिम्ब से निर्मल आकाश शोभित होता है वैसे ही तपस्याओं और ब्रतों से निर्मल हुए मुनिगण विशुद्ध सम्यगदर्शन से शोभित होते हैं।

इय णाउं गुणदोसं दंसणरयणं धरेह भावेण ।

सारं गुणरयणाणं सोवाणं पढम मोक्खस्स ॥ ३१७ ॥

हे मुने, इस प्रकार गुण और दोष को समझकर तू सम्यगदर्शन रूपी रत्न को भावपूर्वक धारण कर। यह गुण रूपी रत्नों का सार है और मोक्ष की पहली सीढ़ी है।

कत्ता भोइ अमुत्तो सरीरमित्तो अणाइणिहणो य ।

दंसणणाणुवओगो णिदिङ्गो जिणवरिदेहिं ॥ ३१८ ॥

यह जीव कर्ता है, भोक्ता है, अमूर्तिक है, अनादि है, अनन्त है और देखने जानने के रूप में उपयोग स्वरूप है। इसका यह रूप जिनेन्द्र भगवान् ने निरूपित किया है।

दंसणणाणावरणं मोहणियं अंतराइयं कम्मं ।

णिङ्गवइ भवियजीवो सम्मं जिणभावणाजुत्तो ॥ ३१९ ॥

जिनभावना से भली प्रकार युक्त भव्य जीव दर्शनावरणी, ज्ञानावरणी, मोहनीय और अन्तराय इन चार घातिया कर्मों का नाश करता है।

बलसोक्खणाणदंसण चत्तारि वि पायडा गुणा होंति ।

णटे घाइचउक्के लोयालोयं पयासेदि ॥३२०॥

पूर्वोक्त चार धाति कर्मों का नाश होने पर जीव के दर्शन, ज्ञान, सुख और बल ये चार गुण प्रकट हो जाते हैं और वह जीव लोक एवं अलोक को प्रकाशित करने लगता है।

णाणी सिव परमेष्ठी सव्वण्हू विण्हु चउमुहो बुद्धो ।

अप्पो वि य परमप्पो कम्मविमुक्को य होइ फुडं ॥ ३२१ ॥

इसे स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि परमात्मा ज्ञानी, शिव, परमेष्ठी, सर्वज्ञ, विष्णु, चतुर्मुख और बुद्ध है। दरअसल वह आत्मा ही है। सिर्फ कर्म से रहित है।

इय घाइकम्ममुक्को अद्वारहदोसवज्जिओ सयलो ।

तिहुवणभवणपदीवो देउ ममं उत्तमं बोहिं ॥ ३२२ ॥

वह (परमात्मा) धाति कर्मों और क्षुधा, तृष्णा आदि अठारह दोषों से रहित है। (अरिहन्त होने के कारण) सशरीर है। तीन लोक रूपी भवन का दीप है। वह मुझे सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र प्रदान करे।

जिणवचरणंबुरुहं णमंति जे परमभत्तिराएण ।

ते जम्मवेल्लिमूलं खणंति वरभावसत्थेण ॥ ३२३ ॥

जो व्यक्ति जिनेन्द्र भगवान् के चरणकमलों में परम भक्तिराग पूर्वक नमन करते हैं वे श्रेष्ठ भाव रूपी शास्त्र से जन्म रूपी लता की जड़ को ही खोद डालते हैं। उन्हें पुनर्जन्म नहीं लेना पड़ता।

जह सलिलेण ण लिप्पइ कमलिणिपत्तं सहावपयडीए ।

तह भावेण ण लिप्पइ कसायविसएहिं सप्पुरिसो ॥ ३२४ ॥

जैसे कमलिनी का पत्ता स्वभाव से ही जल से लिप्प नहीं होता वैसे ही श्रेष्ठ (सम्यग्दृष्टि सम्पन्न) व्यक्ति भी स्वभाव से ही क्रोध आदि कषायों और इन्द्रिय विषयों से लिप्प नहीं होते।

ते च्विय भणामि हं जे सयलकलासीलसंजमगुणेहिं ।

बहुदोसाणावासो सुमलिणचित्तो ण सावयसमो सो ॥ ३२५ ॥

वे ही (भाव और सम्यग्दृष्टि युक्त) व्यक्ति सम्पूर्ण कलाओं, शील और संयम से सम्पन्न होते हैं। उन्हीं को मैं मुनि कहता हूँ। जिनके चित्त मैले एवं बहुत से दोषों के घर हैं वे तो (मुनि वेश के बावजूद) श्रावक के समान भी नहीं हैं।

ते धीरवीरपुरिसा खमदमखगेण विष्फुरंतेण ।

दुज्जयपबलबलुद्धरकसायभड णिज्जिया जेहिं ॥ ३२६ ॥

वे व्यक्ति वास्तविक धीर, वीर हैं जिन्होंने क्षमा और इन्द्रिय निग्रह के तीक्ष्ण खड़ग से दुर्जय, भारी और धृष्ट कषाय रूपी सुभटों को जीता है।

धण्णा ते भयवंता दंसणणाणगपवरहत्थेहिं ।

बिसयमयरहरपडिया भविया उत्तारिया जेहिं ॥ ३२७ ॥

वे सत् पुरुष (मुनि) धन्य हैं जिन्होंने विषयों के समुद्र में पड़े हुए भव्य जीवों को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान रूपी अपने बलवान हाथों से पार उतारा है।

मायावेल्लि असेसा मोहमहातरुवरम्मि आरूढा ।

विसयविसपुण्डलिय लुणंति मुणि णाणसत्थेहिं ॥ ३२८ ॥

मोह रूपी महावृक्ष पर चढ़ी हुई तथा विषय रूपी विष के फूलों से लदी हुई माया रूपी लता को मुनिगण अपने ज्ञान रूपी शस्त्र से काट डालते हैं।

मोहमयगारवेहिं य मुक्का जे करुणभावसंजुत्ता ।

ते सञ्चदुरियखंभं हणंति चारित्तखगेण ॥ ३२९ ॥

जो मुनि मोह, मद तथा गौरव से परे हैं और करुणाभाव से भरे हुए हैं वे अपने सम्यक् चारित्र के खड़ग से सर्व पापों के स्तम्भ को नष्ट कर देते हैं।

गुणगणमणिमालाए जिणमयगयणे णिसायरमुणिंदो ।

तारावलिपरियरिओ पुणिमइंदुव्व पवणपहे ॥ ३३० ॥

जैसे आकाशमार्ग में नक्षत्रसमूह से वेष्टित पूर्णिमा का चन्द्रमा शोभित होता है वैसे ही जिनमत रूपी गगन में गुणों की मणिमाला से वेष्टित मुनीन्द्र रूपी चन्द्रमा शोभा पाता है।

चक्रहररामकेसवसुरवर जिणगणहराइसोकखाइं ।

चारणमुणिरिद्धीओ विसुद्धभावा णरा पत्ता ॥ ३३१ ॥

(पुरा काल में) विशुद्ध भाव वाले ऐसे अनेक नर मुनि हो चुके हैं जिन्होंने चक्रधर राम, केशव, सुरवर, जिनवर, गणधर, चारण मुनि आदि की ऋद्धियों को प्राप्त किया है।

सिवमजरामरलिंगमणोवममुत्तमं परमविमलतुलं ।

पत्ता वरसिद्धिसुहं जिणभावणभाविया जीवा ॥ ३३२ ॥

जिनभावना से भावित जीव ऐसी श्रेष्ठ सिद्धि अर्थात् मोक्ष का सुख प्राप्त करते हैं जो कल्याणकारी, अनुपम, उत्तम, श्रेष्ठ, निर्मल और अतुल्य है और अजरता, अमरता जिसकी पहचान है।

ते मे तिहुवणमहिया सिद्धा सुद्धा णिरंजणा णिच्चा ।

दिंतु वरभावसुद्धि दंसण णाणे चरित्ते य ॥ ३३३ ॥

आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि हे सिद्ध भगवान् आप तीन लोक में पूज्य, शुद्ध, निरंजन और नित्य हैं। प्रार्थना है कि मुझे दर्शन, ज्ञान, चारित्र में श्रेष्ठ भावशुद्धि प्रदान करें।

किं जंपिएण बहुणा अत्थो धम्मो य काममोक्खो य ।

अण्णे वि य वावारा भावम्मि परिद्धिठया सव्वे ॥ ३३४ ॥

आचार्य आगे कहते हैं, बहुत कहने से क्या ? धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, तथा और भी जो व्यापार हैं वे सब शुद्ध भाव में अवस्थित हैं। अर्थात् शुद्ध भाव में तमाम सिद्धियों का वास है।

इय भावपाहुडमिणं सव्वंबुद्धेहि देसियं सम्मं ।

जो पढ़इ सुणइ भावइ सो पावइ अविचलं ठाणं ॥ ३३५ ॥

इस प्रकार सर्वज्ञ देव ने इस भावपाहुड का भली प्रकार प्रतिपादन किया है। जो इसे पढ़ता, सुनता और इसका चिन्तन करता है उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है।

## मोक्खपाहुड (मोक्षप्राभृतम्)

णाणमयं अप्पाणं उवलद्धं जेण झडियकम्मेण ।

चइऊण य परदव्वं णमो णमो तस्स देवस्स ॥ ३३६ ॥

पर-द्रव्य को छोड़कर और अपने कर्मों का क्षय करके जिसने ज्ञानमय आत्मा को उपलब्ध किया है उस देव को मैं कुन्दकुन्द नमन करता हूँ, नमन करता हूँ।

णमिऊण य तं देवं अणंतवरणाणदंसणं सुद्धं ।

वोच्छं परमप्पाणं परमपयं परमजोईणं ॥ ३३७ ॥

वह देव अनन्त ज्ञान, दर्शन से सम्पन्न और शुद्ध है। उसका पद परम उत्कृष्ट है। उसी देव को नमस्कार करके श्रेष्ठयोगी मुनिराजों के लाभ के लिए मैं उसका (उस देव परमात्मा का) वर्णन करूँगा।

जं जाणिऊण जोई जोअत्थो जोइऊण अणवरयं ।

अव्वाबाहमणंतं अणोवमं लहइ णिव्वाणं ॥ ३३८ ॥

योग में अवस्थित योगी उस परमात्मा को जानकर और उसे निरन्तर अपने अनुभव में गोचर करके बाधारहित, अनन्त और अनुपम निर्वाण को प्राप्त करता है।

तियपारो सो अप्पा परमंतरबाहिरो हु देहीणं ।

तत्थ परोऽझाइज्जइ अंतोवाएण चइवि बहिरप्पा ॥ ३३९ ॥

प्राणधारियों की आत्मा के तीन प्रकार हैं- परमात्मा, अन्तरात्मा और बहिरात्मा। बहिरात्मपन को छोड़कर अन्तरात्मा से परमात्मा का ध्यान करना चाहिए।

अक्खाणि बाहिरप्पा अंतरअप्पा हु अप्पसंकप्पो ।  
कम्मकलंकविमुक्तो परमप्पा भण्णए देवा ॥ ३४० ॥

इन्द्रियाँ बहिरात्मा हैं। अन्तरंग में प्रकट संकल्प अन्तरात्मा हैं। जो कर्म के कलंक से मुक्त है वह परमात्मा है। वही देव है।

मलरहिओ कलचत्तो अणिंदिओ केवलो विसुद्धप्पा ।  
परमेष्ठी परमजिणो सिवकरो सासओ सिद्धो ॥ ३४१ ॥

कर्मपल से रहित, शरीर रहित, इन्द्रियरहित और केवल ज्ञानमय विशुद्ध आत्मा ही परमात्मा है। वह परम पद में अवस्थित परम जिन है। कल्याणकर, अविनाशी और निर्वाण में स्थित सिद्ध है।

आरुहवि अन्तरप्पा बहिरप्पा छंडिऊण तिविहेण ।  
झाइज्जइ परमप्पा उवइटुं जिणवरिदेहिं ॥ ३४२ ॥

जिनवरेन्द्र तीर्थकर भगवान् का यह स्पष्ट उपदेश है कि मन-वचन-काय से बहिरात्मा का परित्याग करके अन्तरात्मा का आश्रय लेकर परमात्मा का ध्यान करना चाहिए।

बहिरत्थे फुरियमणो इंदियदारेण णियसरूवचुओ ।  
णियदेहं अप्पाणं अज्ज्ञवसदि मूढिट्ठीओ ॥ ३४३ ॥

बहिरात्मा व्यक्ति मूढ़ दृष्टि होता है। उसका मन बाह्य पदार्थों के प्रति मचलता है। वह अपने इन्द्रिय-द्वारों से अपने स्वरूप से च्युत होता है और अपनी देह को ही आत्मा समझता है।

णियदेहसरिच्छं पिच्छिऊण परिवग्गहं पयत्तेण ।

अच्चेयणं पि गहियं झाइज्जइ परमभावेण ॥ ३४४ ॥

बहिरात्मा व्यक्ति दूसरे की देह को अपनी देह की तरह ही देखकर उसकी अचेतना के बावजूद यत्नपूर्वक और परम भाव से उसी का ध्यान करता है।

सपरज्ञवसाएणं देहेसु य अविदिदत्थमप्पाणं ।

सुयदाराईविसए मणुयाणं वङ्गढए मोहो ॥ ३४५ ॥

आत्मा के स्वरूप को नहीं समझनेवाले, अपनी और दूसरों की देहों को ही अपनी और दूसरों की आत्मा मानने वाले मनुष्यों का अपनी पत्नी, पुत्र आदि से मोह बढ़ता जाता है।

मिच्छाणाणेसु रओ मिच्छाभावेण भाविओ संतो ।

मोहोदएण पुणरवि अंगं स मण्णए मणुओ ॥ ३४६ ॥

मोहकर्म के उदय से मिथ्याज्ञान और मिथ्याभाव में पड़ा हुआ मनुष्य आगामी जन्म में भी देह को ही पाना चाहता है।

जो देहे णिरवेकखो णिदंदो णिम्ममो णिरारंभो ।

आदसहावे सुरओ जोई जो लहइ णिव्वाणं ॥ ३४७ ॥

आत्म स्वभाव में रत जो योगी देह के प्रति निरपेक्ष और निरारम्भ उदासीन रहता है, रागद्वेष के द्वन्द्व में नहीं उलझता, देह के प्रति ममत्व और परिग्रह से रहित होता है वह निर्वाण को प्राप्त करता है।

परदव्वरओ बज्जदि विरओ मुच्चेइ विविहकम्मेहिं ।

एसो जिणउवदेसो समासदो बंधमुकखस्स । ३४८ ॥

बन्ध और मोक्ष के बारे में संक्षेप में जिनेन्द्र भगवान् ने यही उपदेश दिया है कि जो पर-द्रव्य में रत रहता है वह अनेक प्रकार के कर्मों से बँधता है और जो उससे विरत होता है वह उनसे छूट जाता है।

सद्व्वरओ सवणो सम्माइड्डी हवेइ णियमेण ।

सम्पत्तपरिणदो उण खवेइ दुड्डुकम्माइं ॥ ३४९ ॥

जो मुनि स्व-द्रव्य अर्थात् अपनी आत्मा में तल्लीन रहता है वह अनिवार्यतः सम्यग्दृष्टि है। सम्यक्त्व से सम्पन्न होने के कारण वह आठ दुष्ट कर्मों का क्षय करने में समर्थ होता है।

जो पुण परदव्वरओ मिच्छादिड्डी हबेइ सो साहू ।

मिच्छत्तपरिणदो पुण बज्जदि दुड्डुकम्मेहिं ॥ ३५० ॥

इसके विपरीत जो मुनि पर-द्रव्य में तल्लीन रहता है वह मिथ्यादृष्टि है। मिथ्यात्व के कारण वह आठ दुष्ट कर्मों से बँधता है।

परदव्वादो दुर्गाई सद्व्वादो हु सुर्गाई होइ ।

इय णाऊण सदव्वे कुणह रई विरइ इयरम्मि ॥ ३५१ ॥

पर-द्रव्य से दुर्गति और स्व-द्रव्य से स्पष्टतः सुगति मिलती है। यह जानकर स्व-द्रव्य से राग और पर-द्रव्य (देह आदि) से विराग करना चाहिए।

आदसहावादण्णं सच्चिताचितमिस्मियं हवदि ।

तं परदब्वं भणियं अवितत्थं सव्वदरिसीहिं ॥ ३५२ ॥

सर्वदर्शी जिनेन्द्र भगवान् ने इस सत्य को प्रकट किया है कि आत्म स्वभाव से इतर जो भी चेतन (पत्नी, पुत्र आदि), अचेतन (धन, धान्य आदि) और मिश्रित (वस्त्राभूषण सहित स्त्री आदि) पदार्थ हैं वे सब पर-द्रव्य हैं।

दुष्टुकम्मरहियं अणोवमं णाणविगग्हं णिच्चं ।

सुद्धं जिणेहिं कहियं अप्पाणं हवदि सद्ब्वं ॥ ३५३ ॥

ज्ञानावरणादि आठ दुष्ट कर्मों से रहित ज्ञान शरीर, अनुपम, अनिवाशी और निर्मल आत्मा को ही जिनेन्द्र भगवान् स्व-द्रव्य कहते हैं।

जे झायंति सद्ब्वं परदब्वपरम्मुहा दु सुचारिता ।

ते जिणवराण मगे अणुलगा लहहिं णिव्वाणं ॥ ३५४ ॥

निर्दोष चारित्र के धनी जो मुनि पर-द्रव्य से विमुख होते हैं और स्व-द्रव्य (आत्मा) के ध्यान में लीन रहते हैं वे तीर्थकरों के मार्ग का अनुसरण करते हुए निर्वाण को प्राप्त करते हैं।

जिणवरमएण जोई झाणे झाएइ सुद्धभप्पाणं ।

जेण लहइ णिव्वाणं ण लहइ किं तेण सुरलोयं ॥ ३५५ ॥

जिस योगी को जिनेन्द्र भगवान् के मतानुसार शुद्ध आत्मा के ध्यान में लीन रहने से निर्वाण की प्राप्ति होती है, क्या उसे स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होगी ?

जो जाइ जोयणसयं दियहेणक्केण लेवि गुरुभारं ।

सो किं कोसद्धं पि हु ण सक्कए जाउ भुवणयले ॥ ३५६ ॥

उत्तर साफ है। जो व्यक्ति भारी बोझ लादकर पृथ्वी पर एक दिन में सौ योजन तक जाता है क्या वह आधा कोस नहीं जा सकेगा ?

जो कोडिए ण जिप्पइ सुहडो संगामएहिं सव्वेहिं ।

सो किं जिप्पइ इक्किंक णरेण संगामए सुहडो ॥ ३५७ ॥

जो वीर युद्धरत एक करोड़ मनुष्यों को जीत लेता है क्या वह एक मनुष्य को नहीं जीत पाएगा ?

सग्गं तवेण सव्वो वि पावए तहिं वि ज्ञाणजोएण ।

जो पावइ सो पावइ परलोए सासयं सोकखं ॥ ३५८ ॥

(कायकलेश आदि) तप से तो बहुत से लोग स्वर्ग पा लेते हैं। लेकिन जो ध्यान के योग से स्वर्ग प्राप्त करते हैं वे उससे शाश्वत सुख यानी मोक्ष भी पा सकते हैं।

अइसोहणजोएणं सुद्धं हेमं हवेइ जह तह य ।

कालाईलद्धीए अप्पा परमप्पओ हवदि ॥ ३५९ ॥

जैसे शोधन सामग्री से स्वर्ण शुद्ध स्वर्ण बन जाता है वैसे ही काल आदि लब्धि से आत्मा (शुद्ध होकर) परमात्मा बन जाती है।

वर वयतवेहि सगो मा दुकखं होउ णिरइ इयरेहिं ।

छायातबद्धियाणं पडिवालंताण गुरुभेयं ॥ ३६० ॥

अब्रत और अतप से नरक का दुःख झेलने की अपेक्षा ब्रत और तप से स्वर्ग प्राप्त कर लेना अच्छा है। छाया और धूप में बैठने वाले के प्रतिपालक कारणों में बड़ा भेद है।

जो इच्छइ णिस्सरिदुं संसारमहण्णवाउ रुंदाओे ।  
कमिंमध्णाण डहणं सो झायइ अप्पयं सुङ्धं ॥ ३६१ ॥

जो व्यक्ति संसार रूपी विराट महासागर से बाहर निकलना चाहता है वह कर्म के ईंधन का दहन करने वाले शुद्ध आत्मध्यान में लीन रहता है।

सब्बे कसाय मोत्तुं गारवमयरायदोसवामोहं ।  
लोयववहारविरदो अप्पा झाएह झाणत्थो ॥ ३६२ ॥

तमाम कषायों, गौरव, मद, राग, द्वेष तथा मोह को छोड़कर, सांसारिक व्यवहारों से विरत रहकर और ध्यान में स्थित होकर मुनिजन आत्मा का ध्यान करते हैं।

मिच्छतं अण्णाणं पावं पुणं चएवि तिविहेण ।  
मोणव्वएण जोई जोयत्थो जोयए अप्पा ॥ ३६३ ॥

मिथ्यात्व, अज्ञान और पाप-पुण्य को मन-वचन-काय से त्यागकर, मौनब्रत धारण करके और ध्यान में अवस्थित होकर योगीजन आत्मा का ध्यान करते हैं।

जं मया दिस्सदे रूवं तं ण णाणादि सब्बहा ।  
जाणगं दिस्सदे णेव तम्हा जंपेमि केण हं ॥ ३६४ ॥

जो रूप मुझे दिखाई देता है (जड़ होने के कारण) वह कुछ भी नहीं जानता। मैं ज्ञायक हूँ। लेकिन अमूर्तिक होने के कारण मैं उसे दिखाई नहीं देता। इसलिए दोनों के मध्य संवाद कैसे हो ?

सञ्चासवणिरोहेण कर्म खवदि संचिदं ।

जोयत्थो जाणए जोई जिणदेवेण भासियं ॥ ३६५ ॥

ध्यान में अवस्थित योगी पहले तमाम आस्त्रवों का निरोध करता है। यानी संवरयुक्त होता है। फिर पूर्वसंचित कर्मों का क्षय करता है। वस्तुतः इस सम्बन्ध में वह जिनेन्द्र भगवान् के मन्तव्य को जानता है।

जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि ।

जो जगदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणो कज्जे ॥ ३६६ ॥

जो योगी व्यवहार के मामले में सोया हुआ होता है वह आत्म स्वभाव को जानने के मामले में जागृत रहता है। इसके विपरीत जो व्यवहार के मामले में जागृत होता है वह अपनी आत्मा के मामले में सोया हुआ रहता है।

इय जाणिऊण जोई ववहारं चयइ सञ्चहा सञ्चं ।

झायइ परमप्पाणं जह भणियं जिणवरिदेहिं ॥ ३६७ ॥

ऐसा (पूर्वोक्त को) जानकर योगी तमाम व्यवहारों को सब प्रकार से त्याग देता है और जिस प्रकार जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है उसी प्रकार परमात्मा का ध्यान करता है।

पंचमहव्ययजुत्तो पंचसु समिदीसु तीसु गुत्तीसु ।

र्यणत्तयसंजुत्तो झाणज्ञयणं सया कुणह ॥ ३६८ ॥

पाँच महाब्रतों, पाँच समितियों, तीन गुप्तियों और तीन रत्नों (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-रूप-रत्नत्रय) से संयुक्त होकर हे मुनिजनों, सदैव ध्यान और शास्त्र का अभ्यास करना चाहिए।

रथणतयमाराहं जीवो आराहओ मुणेयव्वो ।

आराहणाविहाणं तस्स फलं केवलं णाणं ॥ ३६६ ॥

रत्नत्रय की आराधना करता हुआ जीव आराधक है और आराधना के विधान का फल केवलज्ञान है।

सिद्धो सुद्धो आदा सव्वण्हू सव्वलोयदरिसी य ।

सो जिणवरेहिं भणिओ जाण तुमं केवलं णाणं ॥ ३७० ॥

आत्मा स्वयं सिद्ध है, किसी से उत्पन्न नहीं है। निर्मल है। समस्त लोकालोक को जानती, देखती है। जिनेन्द्र भगवान् का कथन है कि हे मुने, यह आत्मा ही केवलज्ञान है। इसे ही केवल ज्ञान समझना।

रथणत्तयं पि जोई आराहइ जो हु जिणवरमण ।

सो झायदि अप्पाणं परिहरइ परं ण संदेहो ॥ ३७१ ॥

जिनेन्द्र भगवान् के मतानुसार जो योगी रत्नत्रय की आराधना करता है वह निःसंदेह पर-द्रव्य का परित्याग करता है और आत्मा का (स्व-द्रव्य) ध्यान करता है।

जं जाणइ तं णाणं जं पिच्छइ तं च दंसणं णेयं ।

तं चारितं भणियं परिहारो पुण्णपावाणं ॥ ३७२ ॥

यह समझना चाहिए कि जो जानता है वह ज्ञान, जो देखता है वह दर्शन और जो पापपुण्य दोनों से परे होता है, वह चारित्र है। एक मात्र आत्मा ही जानती, देखती और पापपुण्य से परे होती है। इसलिए वही ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप रत्नत्रय है।

तच्चरुई सम्मतं तच्चगहणं च हवइ सण्णाणं ।  
चारितं परिहारो परुवियं जिणवरिदेहिं ॥३७३॥

जिनेन्द्र भगवान् का कथन है कि तत्वों (जीव, अजीव, आस्त्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष) के प्रति श्रद्धा सम्यक्त्व है, तत्वों को जानना सम्यग्ज्ञान है और पर-द्रव्य का परिहार चारित्र है।

दंसणसुद्धो सुद्धो दंसणसुद्धो लहेइ णिव्वाणं ।  
दंसणविहीणपुरिसो ण लहइ तं इच्छियं लाहं ॥३७४॥

जो व्यक्ति दर्शन से शुद्ध यानी सम्यग्दर्शन का धनी है वही शुद्ध है। उसी को निर्वाण (मोक्ष) की प्राप्ति होती है। सम्यग्दर्शन से रहित व्यक्ति को अभीप्सित लाभ अर्थात् मोक्ष नहीं मिलता।

इय उवएसं सारंजरमरणहरं खु मण्णए जं तु ।  
तं सम्मतं भणियं सवणाणं सावयाणं पि ॥ ३७५॥

यही (पूर्वोक्त) उपदेश का सार है। बुढ़ापे और मौत को हरने वाला है। इसे मानना अर्थात् इस पर श्रद्धा रखना ही सम्यक्त्व है। सार की यह बात मुनि और श्रावक दोनों वर्गों के लिए है।

जीवाजीवविहती जोई जाणेइ जिणवरमण्ण ।  
तं सण्णाणं भणियं अवियत्थं सव्वदरसीहिं ॥ ३७६॥

योगी मुनि जीव और अजीव पदार्थ के भेद को जिनेन्द्र भगवान् के मतानुसार जानता है। यह उसका सम्यग्ज्ञान है। सर्वदर्शी जिनेन्द्र भगवान् द्वारा किया गया यह सत्य कथन है।

जं जाणिऊण जोई परिहारं कुणइ पुण्णपावाणं ।  
तं चारितं भणियं अवियप्प कम्मरहिएहिं ॥ ३७७ ॥

पूर्वोक्त जीव-अजीव भेद रूप सत्यार्थ सम्यग्ज्ञान को जानकर योगी पुण्य और पाप का परित्याग करता है। धाति कर्मों से रहित सर्वज्ञ भगवान् इसे ही निर्विकल्प सम्यक् चारित्र कहते हैं।

जो रयणत्तयजुत्तो कुणइ तवं संजदो ससत्तीए ।  
सो पावइ परमपयं झायंतो अप्पयं सुद्धं ॥ ३७८ ॥

जो संयमी मुनि रत्नत्रय से संयुक्त होकर अपनी शक्ति के अनुसार तप करता है वह शुद्ध आत्मा का ध्यान करता हुआ परम पद निर्वाण को प्राप्त करता है।

तिहि तिणि धरवि णिच्चं तियरहिओ तह तिएण परियरिओ ।  
दोदोसविष्पमुक्को परमप्पा झायए जोई ॥ ३७९ ॥

योगी तीन (तीनों ऋतुओं) में, तीन (मन, वचन, काय) के द्वारा तीन (माया, मिथ्या और निदान रूपी तीन शल्य) से रहित और तीन (दर्शन, ज्ञान, चारित्र) से मण्डित होकर दो (राग, द्वेष) से मुक्त होता है और परमात्मा का ध्यान करता है।

मयमायकोहरहिओ लोहेण विवज्जिओ य जो जीवो ।  
णिम्मलसहावजुत्तो सो पावइ उत्तमं सोकखं ॥ ३८० ॥

जो जीव क्रोध, मद, माया और लोभ से रहित होता है और जिसका स्वभाव निर्मल होता है उसे उत्तम सुख मिलता है।

विसयकसाएहि जुदो रुद्दो परमप्पभावरहियमणो ।

सो ण लहइ सिद्धिसुहं जिणमुद्दपरम्मुहो जीवो ॥ ३८१ ॥

जो जीव विषय कषायों से युक्त है, आक्रामक स्वभाव का है, परमात्मा की भावना से रहित और जिन मुद्रा (जिनमत) से विमुख है उसे सिद्धि (मोक्ष) का सुख नहीं मिलता ।

जिणमुद्दं सिद्धिसुहं हवेइ णियमेण जिणवरुद्दिं ।

सिविणे वि ण रुच्चइ पुण जीवा अच्छंति भवगहणे ॥ ३८२ ॥

जिनेन्द्र भगवान् द्वारा उपदिष्ट जिनमुद्रा वस्तुतः मोक्षसुख है। अर्थात् मोक्ष सुख का कारण है। जिन्हें स्वप्न में भी यह मुद्रा अच्छी नहीं लगती वे इस गहरे संसार में ही बने रहते हैं। उन्हें मोक्ष नहीं मिलता ।

परमप्पय झायंतो जोई मुच्चेइ मलदलोहेण ।

णादियदि णवं कम्मं णिद्दिं जिणवरिंदेहिं ॥ ३८३ ॥

परमात्मा के ध्यान में रत योगी आत्मा को मलिन करने वाले लोभकषाय से मुक्त हो जाता है और नये कर्म का आख्वव भी उसे नहीं होता ।

होऊण दिढचरित्तो दिढसम्मतेण भावियमईओ ।

झायंतो अप्पाणं परमपयं पावए जोई ॥ ३८४ ॥

ऐसे योगी की बुद्धि सम्यगदर्शन से भावित होती है और वह दृढ़ चारित्र को धारण करके आत्मा का ध्यान करता हुआ परमात्म पद को प्राप्त करता है।

चरणं हवइ सधम्मो धम्मो सो हवइ अप्पसमभावो ।

सो रागरोसरहिओ जीवस्स अणण्णपरिणामो ॥३८५॥

आत्मा का स्वर्धम् सम्यक् चारित्र है। उसमें सब जीवों के प्रति समभाव और राग द्वेष से रहित जीव का अनन्य भाव ( एकात्म भाव) होता है।

जह फलिहमणि विसुद्धो परदव्वजुदो हवेइ अण्णं सो ।

तह रागादिविजुतो जीवो हवदि हु अणण्णविहो ॥३८६॥

जैसे स्फटिक मणि निर्मल होती है। लेकिन परद्रव्य के संयोग से अन्य-अन्य सी हो जाती है वैसे ही आत्मा निर्मल है पर रागद्वेष आदि भावों से संयुक्त होने पर अन्य-अन्य सी हो जाती है।

देवगुरुम्मि य भत्तो साहम्मियसंजदेसु अणुरत्तो ।

सम्मतमुव्वहंतो ज्ञाणरओ होदि जोई सो ॥३८७॥

सम्यग्दर्शन को धारण करते हुए और ध्यान में लीन रहते हुए भी देव तथा गुरु में योगी की भक्ति और समानधर्मा संयमी मुनियों के प्रति अनुरक्ति बनी रहती है।

उगतबेणण्णाणी जं कम्मं खवदि भवहि बहुएहिं ।

तं णाणी तिहि गुत्तो खवेइ अंतोमुहुत्तेण ॥३८८॥

अज्ञानी मुनि अनेकानेक जन्मों में जितना कर्मक्षय करता है उतना कर्मक्षय तो ज्ञानी मुनि तीन गुस्ति सहित यानी मन वचन काय की प्रवृत्तियों के निग्रह के साथ अन्तर्मुहूर्त में कर लेता है।

सुहजोएण सुभावं परदव्ये कुणइ रागदो साहू ।  
सो तेण दु अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीओ ॥३८६॥

जब इष्ट के संयोग से मुनि को पर-द्रव्य के प्रति राग होता है तो स्वाभाविक है कि अनिष्ट के संयोग से उसके प्रति उसे द्वेष भी होगा। इस प्रकार रागद्वेष के कारण वह अज्ञानी है। इसके विपरीत ज्ञानी में इष्ट पर-द्रव्य के प्रति राग और अनिष्ट पर-द्रव्य के प्रति द्वेष नहीं होता।

आसवदेहूय तहा भावं मोकखस्स कारणं हवदि ।  
सो तेण दु अण्णाणी आदसहावा दु विवरीदु ॥३८०॥

राग का भाव अगर मोक्ष के निमित्त भी हो तो भी वह आस्त्रव का, कर्मबन्ध का कारण है। इसलिए जो मुनि मोक्ष के प्रति भी रागभाव रखता है वह आत्मस्वभाव से विपरीत होने के कारण अज्ञानी है।

जो कम्मजाइमइओ सहावणाणस्स खँडदूसयरो ।  
सो तेण दु अण्णाणी जिणसासणदूसगो भणिदो ॥ ३८१॥

कर्मरत इन्द्रियों से मिला ज्ञान ही जिसके लिए ज्ञान है वह स्वभाव ज्ञान अर्थात् केवल ज्ञान को खण्ड-खण्ड करने का दोषी है। खण्ड ज्ञान को पूर्ण ज्ञान समझने के कारण वह अज्ञानी है। वह जिनमत को दूषित कर रहा है।

णाणं चरित्तहीणं दंसणहीणं तवेहिं संजुतं ।  
अण्णेसु भावरहियं लिंगग्गहणेण किं सोकखं ॥३८२॥

अगर ज्ञान चारित्र रहित और तप दर्शन रहित है तथा और भी सारा क्रियाव्यापार शुद्धभाव से रहित है तो ऐसा मुनिवेश धारण करने में क्या सुख है ?

अच्चेयणं पि चेदा जो मण्णइ सो हवेइ अण्णाणी ।

सो पुण णाणी भणिओ जो मण्णइ चेयणे चेदा ॥३६३॥

जो अचेतन में चेतन को मानता है वह अज्ञानी है और जो चेतन में ही चेतन को मानता है वह ज्ञानी है।

तवरहियं जं णाणं णाणविजुत्तो तवो वि अकयतथो ।

तम्हा णाणतवेणं संजुत्तो लहइ पिव्वाणं ॥३६४॥

तपरहित ज्ञान और ज्ञान रहित तप दोनों ही अकार्य हैं। ज्ञान और तप के संयुक्त होने पर ही निर्वाण प्राप्त होता है।

धुवसिद्धी तित्थयरो चउणाणजुदो करेइ तवयरंण ।

णाऊण धुवं कुज्जा तवयरणं णाणजुत्तो वि ॥३६५॥

तीर्थकरों को मोक्ष मिलना अटल है। वे मति, श्रुत, अवधि और मनः पर्याय इन चार ज्ञानों के धनी हैं। फिर भी वे तप करते हैं। ऐसा पक्के तौर पर जानकर और ज्ञानयुक्त होकर भी तप करना चाहिए।

बाहिरलिंगेण जुदो अब्धंतरलिंगरहियपरियम्मो ।

सो सगचरित्तभट्ठो मोक्खपहविणासगो साहू ॥३६६॥

जो साधु बाह्य मुनिवेश से युक्त है लेकिन आध्यन्तर मुनित्व अर्थात् राग द्वेष रहित आत्मानुभव से वंचित है वह आत्म स्वरूप के चारित्र से भ्रष्ट और मोक्षपथ का विनाशक है।

सुहेण भाविदं णाणं दुहे जादे विणस्सदि ।

तम्हा जहाबलं जोई अप्पा दुकखेहि भावए ॥३६७॥

सुख से अर्जित ज्ञान दुःख आते ही नष्ट हो जाता है। इसलिए योगी को चाहिए कि वह यथाशक्ति दुःख अर्थात् तपश्चरण आदि के कष्टों के साथ आत्मा का चिन्तवन करे।

आहारासणणिद्वाजयं च काऊण जिणवरमण्ण ।

झायब्वो णियअप्पा णाऊणं गुरूपसाएण ॥३६८॥

आहार, आसन और निद्रा को जिनमत के अनुसार जीतकर और गुरुप्रसाद से अपनी आत्मा को जानकर उसका (अपनी आत्मा का) ध्यान करना चाहिए।

अप्पा चरित्वंतो दंसणणाणेण संजुदो अप्पा ।

सो झायब्वो णिच्चं णाऊणं गुरूपसाएण ॥३६९॥

आत्मा दर्शन ज्ञान चारित्रमय है। इस प्रकार उसे गुरुप्रसाद से जानकर सदैव उसका ध्यान करें।

दुकखे णज्जइ अप्पा अप्पा णाऊण भावणा दुकखं ।

भावियसहावपुरिसो विसयेसु विरच्चए दुकखं ॥४००॥

आत्मा को जानना कष्टसाध्य है। उसे जानकर उसका भावन करना यानी उसे सतत अनुभव करना भी कष्टसाध्य है। फिर उसे अनुभव में उतारने वाले व्यक्ति का विषयों से निरन्तर विरक्त रहना भी कष्टसाध्य है।

ताम ण णज्जइ अप्पा विसएसु णरो पवट्टए जाम ।

विसए विरत्तचित्तो जोई जाणेइ अप्पाणं ॥४०१॥

मनुष्य जब तक इन्द्रिय विषयों में प्रवृत्त है तब तक वह आत्मा को नहीं जानता। विषयों से विरक्त चित्त योगी ही आत्मा को जानता है।

अप्पा णाऊण णरा कई सब्भावभावपब्भट्ठा ।  
हिंडंति चाउरंगं विसएसु विमोहिया मूढा ॥४०२॥

कई मनुष्य आत्मा को जानने के बाद श्रेष्ठ आत्मभाव से च्युत हो जाते हैं। विषयों में विमोहित हुए वे मूर्ख इस चार गति रूप संसार में ही परिभ्रमण करते रहते हैं।

जे पुण विसयविरत्ता अप्पा णाऊण भावणासहिया ।  
छंडंति चाउरंगं तवगुणजूता ण संदेहो ॥ ४०३ ॥

विषयों से विरक्त और तप एवं गुणों से सम्पन्न जो व्यक्ति आत्मा को जानकर निरन्तर उसका भावन करते हैं वे संसार से मुक्त हो जाते हैं।

परमाणुपमाणं वा परदव्वे रदि हवेदि मोहादो ।  
सो मूढो अण्णाणी आदसहावस्स विवरीओ ॥४०४॥

जिस व्यक्ति में पर-द्रव्य के प्रति मोहवश परमाणु बराबर भी राग है वह व्यक्ति अज्ञानी और मूर्ख है। वह आत्म स्वभाव के विपरीत है।

अप्पा झायंताणं दंसणसुद्धीण दिढचरित्ताणं ।  
होदि धुवं णिव्वाणं विसएसु विरतचित्ताणं ॥४०५ ॥

जो व्यक्ति सम्यग्दर्शन से शुद्ध हैं, दृढ़ चारित्र के धनी हैं, आत्मा का ध्यान करते हैं और विषयों से विरक्त चित्त हैं उन्हें निश्चय ही मोक्ष मिलता है।

जेण रागो परे दव्वे संसारस्स हि कारणं ।  
तेणावि जोइणो णिच्चं कुज्जा अप्पे सभावणं ॥ ४०६ ॥

पर-द्रव्य में राग होना संसार का यानी जन्ममरण के चक्र का कारण है। इसलिए योगी सदैव अपनी आत्मा में ही अपने भाव को केन्द्रित रखते हैं।

पिंदाए य पसंसाए दुक्खे य सुहएसुय ।

सत्तूणं चेव बंधूणं चारित्तं समभावदो ॥ ४०७ ॥

निन्दा-प्रशंसा, दुःख-सुख और शत्रु-मित्र में समभाव रखना चारित्र है।

चरियावरिया वदसमिदिवज्जिया सुद्धभावपब्धट्टा ।

केर्इ जंपंति णरा ण हु कालो झाणजोयस्स ॥ ४०८ ॥

कई मनुष्य व्रत और समिति से रहित हैं। उनकी आचार क्रिया भी आवृत है। इसलिए वे शुद्ध भाव से च्युत हैं। लेकिन कहते वे ऐसा हैं कि यह काल (पंचम काल) वस्तुतः ध्यान करने के योग्य नहीं है।

सम्मत्तणाणरहिओ अभव्वजीवो हु मोक्खपरिमुक्तो ।

ससारसुहे सुरदो ण हु कालो भणइ झाणस्स ॥ ४०९ ॥

सम्यक्त्व और ज्ञान से रहित उक्त अभव्य जीव को निस्सन्देह मोक्ष मिलने वाला नहीं है। वह तो संसार के सुखों में आसक्त है और कहता यह फिरता है कि यह काल ही ध्यान के योग्य नहीं है।

पंचसु महब्वदेसु य पंचसु समिदीसु तीसु गुत्तीसु ।

जो मूढो अण्णाणी ण हु कालो भणइ झाणस्स ॥ ४१० ॥

जो पाँच महाब्रतों, पाँच समितियों और तीन गुप्तियों में मूढ़ एवं अज्ञानी है वही यह कहता है कि यह काल ही ध्यान करने योग्य नहीं है।

भरहे दुस्समकाले धम्मज्ञाणं हवेइ साहुस्स ।

तं अप्पसहावठिदे ण हु मणइ सो वि अण्णाणी ॥ ४११ ॥

इस भरत क्षेत्र में पंचम काल में भी आत्म स्वभाव में स्थित मुनियों को धर्मध्यान होता है। लेकिन अज्ञानी जन इसे भी नहीं मानते।

अज्ज वि तिरयणसुद्धा अप्पा झाएवि लहहिं इंदतं ।

लोयंतियदेवत्तं तत्थ चुआ णिवुदिं जंति ॥४१२॥

आज भी (इस पंचम काल में भी) जो मुनि सम्यग्दर्शन, सम्यज्ञान और सम्यक् चारित्र की शुद्धता से युक्त हैं और आत्मा का ध्यान करते हैं वे इन्द्र अथवा लौकान्तिक देव के रूप में जन्म लेते हैं और उस रूप में अपनी उप्र पूरी करने के बाद मोक्ष प्राप्त करते हैं।

जे पावमोहियमई लिंगं घेतूण जिणवरिंदाणं ।

पावं कुणंति पावा ते चत्ता मोक्खमग्गम्मि ॥४१३॥

जिनकी बुद्धि पापकर्म के मोह में पड़ी हुई है वे मुनि का स्वरूप धारण करके भी पाप ही करते हैं। उन पापियों के लिए मोक्ष के दरवाजे बन्द हैं।

जे पंचचेलसत्ता गंथगाही य जायणासीला ।

आधाकम्मम्मि रया ते चत्ता मोक्खमग्गम्मि ॥४१४॥

जिनकी आसक्ति पाँच प्रकार के वस्त्रों (अण्डज, कर्पासज, वल्कल, चर्मज और रोमज) में है, जो परिग्रही हैं, याचना करते रहना जिनका स्वभाव है और जो पापकर्म में लिप्त हैं उनके लिए मोक्षमार्ग के दरवाजे बन्द हैं।

णिगंथमोहमुक्ता बावीसरपरीसहा जियकसाया ।

पावारंभविमुक्का ते गहिया मोक्खमग्गम्मि ॥४१५॥

जो परिग्रह रहित और मोहमुक्त हैं, बाईस परीषहों को सहते हैं और क्रोध आदि कषायों को जीत चुके हैं वे ही मुनि मोक्षमार्ग में स्वीकार्य हैं।

उद्धृद्धमज्जलोये केर्द मज्जं ण अहयमेगागी ।

इय भावणाए जोई पावंति हु सासयं सोक्ख ॥४९६॥

ऊर्ध्व, मध्य और अधोलोक में कोई भी मेरा नहीं है, मैं एकाकी आत्मा हूँ-इस भावना से योगी मुनि स्पष्टतः शाश्वत सुख अर्थात् मोक्ष प्राप्त करते हैं।

देवगुरुणं भत्ता णिव्वेयपरंपरा विचिंतिंता ।

झाणरथा सुचरित्ता ते गहिया मोक्खमग्गम्मि ॥४९७॥

देव और गुरु के भक्त, वैराग्यक्रम के चिन्तन में तल्लीन, ध्यान में रत और श्रेष्ठ चारित्र के धनी मुनिजन मोक्षमार्ग में स्वीकार्य होते हैं।

णिच्छयणयस्स एवं अप्पा अप्पम्मि अप्पणे सुरदो ।

सो होदि हु सुचरित्तो जोई सो लहइ णिव्वाणं ॥४९८॥

निश्चय नय का यह सोच है कि आत्मा को आत्मा में ही आत्मा के लिए ही भली प्रकार तल्लीन रखने वाला योगी स्पष्टतः सम्यक् चारित्र का धनी होता है और वह मोक्ष प्राप्त करता है।

पुरिसाथारो अप्पा जोई वरणाणदंसणसमगो ।

जो झायदि सो जोई पावहरो हवदि णिदंदो ॥४९९॥

आत्मा पुरुषाकार और योगी है। श्रेष्ठ ज्ञान, दर्शन से परिपूर्ण है। ऐसी आत्मा का जो योगी मुनि ध्यान करता है उसके पाप दूर हो जाते हैं ( उसके पूर्व कर्मबन्ध का नाश हो जाता है) और वह राग द्वेष आदि विकल्पों से रहित हो जाता है यानी उसका नया कर्मबन्ध होने की सम्भावना भी नहीं रहती।

एवं जिणेहि कहियं सवणाणं सावयाण पुण सुणसु ।

संसारविणासयरं सिद्धियरं कारणं परमं ॥४२०॥

पूर्वोक्त उपदेश तो जिनेन्द्र भगवान् ने श्रमणों (मुनियों) को दिए हैं। अब श्रावकों को दिए गए उनके उन उपदेशों पर ध्यान दें जिनसे जन्ममरण का चक्र खत्म होता है और सिद्धि (मोक्ष) प्राप्त होती है।

गहिऊण य सम्मतं सुणिम्मलं सुरगिरीव णिकंपं ।

तं ज्ञाणे झाइज्जइ सावय दुक्खक्खयट्टाए ॥४२१॥

हे श्रावकों, (सबस पहले) अत्यन्त निर्मल और सुमेरु पर्वत की तरह अविचल सम्यग्दर्शन को ग्रहण करना और दुःखों के विनाश के लिए उसे सदैव अपने ध्यान में धारण किए रहना।

सम्मतं जो झायइ सम्माइट्टी हबेइ सो जीवो ।

सम्मतपरणिदो उण खवेइ दुड्डुकम्माणि ॥४२२॥

जो जीव सम्यक्त्व (सम्यग्दर्शन) का ध्यान करता है वह सम्यग्दृष्टि हो जाता है। फिर उस सम्यग्दृष्टि जीव के आठ दुष्ट कर्मों का क्षय हो जाता है।

किं बहुणा भणिएणं जे सिद्धा णरवरा गए काले ।

सिज्जिहहि जे वि भविया तं जाणह सम्ममाहप्पं ॥ ४२३॥

अधिक कहने से क्या ? इतना ही समझ लीजे कि जो श्रेष्ठ मनुष्य अतीत में सिद्ध हुए हैं और भविष्य में होंगे उन सब के पीछे सम्यक्त्व की ताकत है।

ते धण्णा सुक्यत्था ते सूरा ते वि पंडिया मणुया ।  
सम्मतं सिद्धियरं सिविणे वि ण मइलियं जेहिं ॥ ४२४ ॥

जिन मनुष्यों ने मोक्षदायक सम्यक्त्व को स्वप्न में भी कभी मलिन नहीं किया वे धन्य हैं, कृतार्थ हैं, शूरवीर और पण्डित हैं और वे ही मनुष्य हैं।

हिंसारहिए धम्मे अट्टारहदोसवज्जिए देवे ।  
णिगंथे पञ्चयणे सद्हणं होइ सम्मतं ॥ ४२५ ॥

हिंसा रहित धर्म में, अठारह दोषों से रहित देव में और मोक्षमार्ग के उपदेशक गुरु में श्रद्धा रखना ही सम्यक्त्व है।

जहजायरूवरूवं सुसंजयं सञ्चसंगपरिचत्तं ।  
लिंगं ण परावेकखं जो मण्णइ तस्स सम्मतं ॥ ४२६ ॥

जैसा जन्म हुआ वैसा ही, लौकिक जनों की संगति से दूर, पर-द्रव्य से किसी प्रकार की अपेक्षा नहीं- इस मुनिवेश में श्रद्धा रखना ही सम्यक्त्व है।

कुच्छियदेवं धम्मं कुच्छियलिंगं च बंदए जो दु ।  
लज्जाभयगारवदो मिच्छादिङ्गी हवे सो हु ॥ ४२७ ॥

जो व्यक्ति लज्जा, भय अथवा गौरव के कारण कुत्सित देवता, कुत्सित धर्म और कुत्सित मुनिवेश की वन्दना करता है वह स्पष्टतः मिथ्या दृष्टि है।

सपरावेकखं लिंगं राई देवं असंजयं वंदे ।  
मण्णइ मिच्छादिङ्गी ण हु देवं मण्णइ सुद्धसम्मतो ॥ ४२८ ॥

जो व्यक्ति अपनी अथवा परायी लौकिक अपेक्षा से वेश धारण करने वाले, रागग्रस्त देवताओं और असंयमित व्यक्तियों की वन्दना करता है, उनके प्रति श्रद्धा रखता है वह मिथ्या दृष्टि है। शुद्ध सम्यग्दृष्टि स्पष्टतः इन्हें नहीं मानता।

सम्माइट्टी सावय धर्मं जिणदेवदेसियं कुणदि ।  
विवरीयं कुव्वंतो मिच्छादिट्टी मुणेयव्वो ॥ ४२६ ॥

सम्यगदृष्टि श्रावक जिनेन्द्र भगवान् द्वारा उपदेशित धर्म का पालन करता है। जो इसके विपरीत करता है उसे मिथ्यादृष्टि समझना चाहिए।

मिच्छादिट्टी जो सो संसारे संसरेइ सुहरहिओ ।  
जम्मजरमरणपउरे दुकखसहस्साउले जीवो ॥ ४३० ॥

मिथ्या दृष्टि व्यक्ति, जन्म, जरा तथा मरण की प्रचुरता वाले और हज़ारों दुःखों से भरे हुए इस संसार में सुख से वंचित रहता हुआ परिभ्रमण करता रहता है।

सम्म गुण मिच्छ दोसो मणेण परिभाविऊण तं कुणसु ।  
जं ते मणस्स रुच्वइ किं बहुणा पलविएणं तु ॥ ४३१ ॥

हे भव्य जीव, व्यर्थ बहुत कहने से क्या ? सम्यकत्व के गुणों और मिथ्यात्व के दोषों पर अपने मन से विचार कर और फिर वह कर जो तेरे मन को अच्छा लगे।

बाहिरसंगविमुक्को ण वि मुक्को मिच्छभाव णिगंथो ।  
किं तस्स ठाणमउणं ण वि जाणादि अप्पसमभावं ॥ ४३२ ॥

अगर तू आत्मा के समभाव को नहीं जानता तो बाह्य परिग्रह छोड़ने, मिथ्यात्व भाव सहित निर्गन्ध वेश धारण करने, कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़े रहने और मौन धारण करने से क्या ? इनसे कुछ भी हासिल नहीं होगा।

मूलगुणं छितूण य बाहिरकम्मं करेइ जो साहू ।  
सो ण लहइ सिद्धिसुहं जिणलिंगविराहगो णियदं ॥ ४३३ ॥

जो मुनि मूल गुणों को तोड़ मरोड़कर बाह्य कर्मों में लगा रहता है वह मोक्ष के सुख को प्राप्त नहीं कर सकता। वह निस्सन्देह जैन मुनित्व का ग़लत प्रस्तोता है।

किं काहिदि बहिकम्मं किं काहिदि बहुविहं च खवणं तु ।

किं काहिदि आदावं आदसहावस्स विवरीदो ॥ ४३४ ॥

बाह्य कर्म, अनेक प्रकार के उपवास आदि तप और आतापन योग आदि कायकलेश अगर आत्मस्वभाव के विपरीत हैं तो वे क्या करेंगे ? उनसे कुछ भी हासिल नहीं होगा ।

जदि पढदि बहु सुदाणिय जदि काहिदि बहुविहं च चारितं ।  
तं बालसुदं चरणं हवेइ अप्पस्स विवरीदं ॥ ४३५ ॥

बहुत से शास्त्रों को पढ़ना, बहुत प्रकार से चारित्र का आचरण करना आदि आत्मा के विपरीत हैं तो ये मात्र अज्ञानी की क्रियाएं हैं ।

वेरगपरो साहू परदव्वपरम्मुहो य जो होदि ।  
संसारसुहविरत्तो सगसुद्धसुहेसु अणुरत्तो ॥ ४३६ ॥

गुणगणविहूसियंगो हेयोपादेयणिच्छिदो साहू ।  
झाणज्ञयणे सुरदो सो पावइ उत्तमं ठाणं ॥ ४३७ ॥

जो साधु वैराग्य में तत्पर हो, पर-द्रव्यों से विमुख हो, सांसारिक सुखों से विरक्त हो, अपने शुद्ध आत्मसुख में तल्लीन हो, गुणसमूह से विभूषित हो, हेय और उपादेय में भेद करना जानता हो और ध्यान तथा अध्ययन में निमग्न हो उसे मोक्ष मिलता है ।

णविएहिं जं णविज्जइ झाइज्जइ झाइएहिं अणवरयं ।  
थुव्वंतेहिं थुणिज्जइ देहत्थं किं पि तं मुणह ॥ ४३८ ॥

नमन किए जाने योग्य व्यक्ति भी जिसे नमन करते हैं, अनवरत ध्यान किए जाने योग्य व्यक्ति जिसका ध्यान करते हैं और स्तुति किए जाने योग्य व्यक्ति जिसकी स्तुति करते हैं ऐसा वह देह के भीतर क्या है इसे जानना चाहिए ।

अरुहा सिद्धायरिया उज्ज्ञाया साहु पंच परमेष्ठी ।

ते वि हु चिङ्गहि आदे तम्हा आदा हु मे सरण ॥४३६ ॥

अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये जो पाँच परमेष्ठी हैं ये भी स्पष्टः आत्मा के भीतर ही अवस्थित हैं। इसलिए साफ़ तौर पर आत्मा ही मेरे लिए शरण है।

सम्मतं सण्णाणं सच्चारितं हि सतवं चेव ।

चउरो चिङ्गहि आदे तम्हा आदा हु मे सरण ॥४४० ॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और सम्यक तप ये चारों आत्मा के भीतर ही अवस्थित हैं। इसलिए साफ़ तौर पर आत्मा ही मेरे लिए शरण है।

एवं जिणपण्णतं मोक्खस्स य पाहुडं सुभत्तीए ।

जो पढ़इ सुणइ भावइ सो पावइ सासयं सोक्खं ॥४४१ ॥

जिनेन्द्र भगवान् द्वारा कहे गए इस प्रकार के मोक्ष पाहुड को जो व्यक्ति पढ़ता है, सुनता है, चिन्तवन करता है उसे शाश्वत सुख यानी मोक्ष की प्राप्ति होती है।

# लिंगपाहुड

## (लिङ्गप्राभृतम्)

काऊण णमोकारं अरहंताणं तहेव सिद्धाणं ।

वोच्छामि समणलिंगं पाहुडसत्थं समासेण ॥४४२॥

मैं कुन्दकुन्द अरिहन्तों को और उसी प्रकार सिद्धों को नमन करके मुनि की पहचान निरूपित करने वाले पाहुड शास्त्र की रचना संक्षेप में कर रहा हूँ।

धम्मेण होइ लिंगं ण लिंगमत्तेण धम्मसंपत्ती ।

जाणेहि भावधम्मं किं ते लिंगेण कायध्वो ॥४४३॥

मुनित्व तो धर्मसहित होता है। सिर्फ़ मुनिवेश से धर्म की प्राप्ति नहीं होती। धर्म तो भाव स्वरूप है। उसे जानना चाहिए। अकेले वेश से कुछ नहीं होता। इसलिए उससे क्या लेना देना ?

जो पावमोहिदमदी लिंगं धेत्तूण जिणवर्दिंदाणं ।

उवहसदि लिंगिभावं लिंगम्मिय णारदो लिंगी ॥४४४॥

पाप से मोहित बुद्धि का व्यक्ति तीर्थकर भगवान् के वेश को ग्रहण करके मुनिभाव का सिर्फ़ उपहास ही करता है। वह मुनियों में नारद है। वह मुनियों में विदूषक है।

णच्चदि गायदि तावं वायं वाएदि लिंगरूवेण ।

सो पावमोहिदमदी तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥४४५॥

जो व्यक्ति श्रमण वेश धारण करके नाचता, गाता और वाद्ययंत्र बजाता फिरता है वस्तुतः उसकी बुद्धि पाप से मोहित है। वह पशु है। श्रमण नहीं है।

सम्मूहदि रक्खेदि य अद्वं ज्ञाएदि बहुपयतेण ।

सो पावमोहिदमदी तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥४४६॥

जो व्यक्ति श्रमणवेश धारण करके परिग्रह का संग्रह करता है, उसका आर्तध्यान करता है और बहुत प्रयत्न से उसकी रक्षा करता है वस्तुतः उसकी बुद्धि पाप से मोहित है। वह पशु है। श्रमण नहीं है।

कलहं वादं जूवा णिच्चं बहुमाणगव्विओ लिंगी ।

वच्चदि णरयं पाओ करमाणो लिंगिरूवेण ॥४४७॥

श्रमणवेश के बावजूद जो मुनि कषाय से गर्वित होकर नित्य कलह करता है, विवाद करता है, जुआ खेलता है उस पापी को यह सब करते हुए नरक में जाना पड़ता है।

पाओपहदंभावो सेवदि य अबंभु लिंगिरूवेण ।

सो पावमोहिदमदी हिंडदि संसारकंतारे ॥४४८॥

श्रमणवेश के बावजूद जो मुनि व्यभिचार में लिप्स होता है उसका आत्मभाव पाप से नष्ट हो गया है। उसकी बुद्धि पाप से मोहित है। उसे संसार के वन में ही परिभ्रमण करते रहना है। उसे मुक्ति नहीं मिलेगी।

दंसणणाणचरिते उवहाणे जइ ण लिंगरूवेण ।

अद्वं ज्ञायदि ज्ञाणं अणंतसंसारिओ होदि ॥४४९॥

जो मुनि श्रमणवेश धारण करके सम्यग्दर्शन, सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक् चारित्र को ध्यान का विषय नहीं बनाता है और आर्तध्यान करता रहता है वह अनन्त संसारी होता है।

जो जोडेदि विवाहं किसिकम्मवणिज्जीवघादं च ।

वच्चदि णरयं पाओ करमाणो लिंगिरूवेण ॥४५०॥

जो श्रमणवेश धारण करके भी विवाह सम्बन्ध कराता है, खेती, वाणिज्य और जीवघात के कार्यों से जुड़ता है वह पापी नरक में जाता है।

चोराण लाउराण य जुद्ध विवादं च तिव्वकम्मेहिं ।

जंतेण दिव्वमाणो गच्छदि लिंगी णरयवासं ॥४५१॥

श्रमणवेश धारण करके भी जो चोरों और लफंगों में युद्ध और विवाद कराता है, तीव्रता से कार्य करता है और यन्त्रों से क्रीड़ा करता रहता है वह नरक में जाता है।

दंसणणाणचरिते तवसंजमणियमणिच्छकम्मम्मि ।

पीडयदि वट्टमाणो पावदि लिंगी णरयवासं ॥४५२॥

श्रमणवेश धारण करके भी जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, संयम, नियम और नित्यकर्मों को नियत समय पर करने में दुःख का अनुभव करता है उसे नरक में निवास मिलता है।

कंदप्पाइय वट्टइ करमाणो भोयणेसु रसगिर्द्धि ।

मायी लिंगविवाई तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥४५३॥

श्रमणवेश धारण करके भी जिसे भोजन में रस और स्वाद की आसक्ति होती है, जो कामभावना/काम सेवन में प्रवृत्त रहता है तथा मायावी और व्यभिचारी है वह पशु है। श्रमण नहीं है।

धावदि पिंडणिमितं कलहं काऊण भुज्जदे पिंडं ।

अवरपरूई संतो जिणमगि ण होइ सो समणो ॥४५४॥

श्रमणवेश धारण करके भी जो आहार के लिए दौड़ लगाता है, परस्पर कलह करते हुए आहार करता है और दूसरों से ईर्ष्या करता है वह जिनमार्गी श्रमण नहीं है।

गिणहदि अदत्तदाणं परणिंदा वि य परोक्खदूसेहिं ।

जिणलिंगं धारंतो चोरेण व होइ सो समणो ॥४५५॥

श्रमणवेश धारण करके भी जो बिना दिया दान लेता है, पीठ पीछे परनिन्दा करता है वह श्रमण नहीं है। चोर के समान है।

उप्पडदि पडदि धावदि पुढवीओ खणदि लिंगरूवेण ।

इरियावह धारंतो तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥४५६॥

जो श्रमणवेश और ईर्यापथ धारण करने के बावजूद रास्ते को शोधकर चलने के स्थान पर दौड़ता हुआ, उछलता हुआ, गिरता पड़ता हुआ चलता है वह पशु है। श्रमण नहीं है।

बधो णिरओ संतो सस्सं खंडेदि तह य वसुहं पि ।

छिंददि तरुगण बहुसो तिरिक्खजोणी य सो समणो ॥४५७॥

जो श्रमणवेश धारण करके भी यह नहीं मानता कि वनस्पति की हिंसा से कर्मबन्ध होता है, इसलिए अनाज को कूटता है, वृक्षों को छेदता है, इसी प्रकार भूमि को खोदता है, वह पशु है। श्रमण नहीं है।

रागं करेदि णिच्चं महिलावगं परं च दूसेदि ।

दंसणणाणविहीणो तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥४५८॥

श्रमणवेश धारण करके भी जो दर्शन और ज्ञान से रहित है और खुद तो महिला वर्ग के प्रति रागग्रस्त रहता है लेकिन दोष दूसरों को लगाता है वह पशु है, श्रमण नहीं है।

पञ्चज्जहीणगहिणं णेहं सीसम्मि बट्टदे बहुसो ।

आयारविणयहीणो तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥४५९॥

श्रमणवेश धारण करके भी जो दीक्षारहित गृहस्थों तथा शिष्यों पर बार बार स्नेहवान होता है और आचार एवं विनय से रहित है वह पशु है। श्रमण नहीं है।

एवं सहिओ मुणिवर संजदमज्ज्ञमि वट्टदे णिच्चं ।

बहुल पि जाणमाणो भावविणद्वो ण सो समणो ॥४६०॥

पूर्वोक्त प्रकार की प्रवृत्तियों से युक्त जो तथाकथित श्रमण संयमी मुनिवरों के बीच भी बराबर बना रहता है, बहुत से शास्त्रों को भी जानता है लेकिन भावों से रहित होता है, वह श्रमण नहीं है ।

दंसणणाणचरिते महिलावगम्मि देदि वीसद्वो ।

पासत्थ वि हु णियद्वो भावविणद्वो ण सो समणो ॥४६१॥

जो महिलावर्ग को दर्शन, ज्ञान, चारित्र का प्रतिपादन करता हुआ उन्हें विश्वास में ले लेता है वह साफ़ तौर पर पाश्वर्वस्थ (भ्रष्ट मुनि) से भी गया गुज्जरा और खतरनाक है । वह भाव से रहित है । वह श्रमण नहीं है ।

पुंच्छलिघरि जो भुज्जइ णिच्चं संथुणदि पोसए पिंडं ।

पावदि बालसहावं भावविणद्वो ण सो सवणो ॥४६२॥

श्रमणवेश धारण करके भी जो व्यभिचारिणी स्त्री के घर आहार ले लेता है, उसकी प्रशंसा करता है और इस प्रकार अपने शरीर का पालन पोषण करता है वह अज्ञानी है । उसके भाव नष्ट हो चुके हैं । वह श्रमण नहीं है ।

इय लिंगपाहुडमिणं सव्वंबुद्धेहिं देसियं धम्मं ।

पालेइ कट्टसहियं सो गाहदि उत्तमं ठाणं ॥४६३॥

इस प्रकार इस लिंग पाहुड के धर्म का उपदेश सर्वज्ञानियों (गणधर आदि) ने दिया है । जो इसे कष्ट उठाता हुआ बड़े जतन से पालता है उसे मोक्ष मिलता है ।

## सीलपाहुड (शीलप्राभृतम्)

वीरं विसालणयण रतुप्पलकोमलस्समप्पायं ।  
तिविहेण पणमिऊणं सीलगुणाणं णिसामेह ॥४६४॥

भगवान् महावीर को, जिनके नेत्र विशाल हैं और कोमल चरण रक्तकमल के समान हैं मैं कुन्दकुन्द मन वचन काय से नमन करके शील गुणों का वर्णन करता हूँ।

सीलस्स य णाणस्य य जत्थि विरोहो बुधेहिं णिद्धिष्ठो ।  
णवरि य सीलेण विणा विसया णाणं विणासंति ॥४६५॥

विद्वानों का मत है कि शील और ज्ञान में आपस में कोई विरोध नहीं है। इतना ज़रूर है कि अगर शील न हो तो इन्द्रियों के विषय ज्ञान को नष्ट कर देते हैं।

दुकखे णज्जदि णाणं णाणं णाऊण भावणा दुकखं ।  
भावियमई व जीवो विसयेसु विरज्जए दुकखं ॥४६६॥

ज्ञान की प्राप्ति मुश्किल से होती है। प्राप्ति हो जाय तो बार-बार अनुभव में लेना मुश्किल से होता है। अनुभव में ले आएं तो उसे इन्द्रिय विषयों में जाने से रोकना मुश्किल से होता है।

ताव ण जाणदि णाणं विसयबलो जाव वट्टए जीवो ।  
विसए विरत्तमेतो ण खवेइ पुराइयं कम्मं ॥४६७॥

जीव जब तक विषयों के वशीभूत रहता है तब तक ज्ञान को नहीं जानता और ज्ञान को जाने बिना अकेले विषयों से विरक्त होने मात्र से (जीव के) पूर्व के बँधे हुए कर्मों का क्षय नहीं होता।

णाणं चरित्तहीणं लिंगग्रहणं च दंसणविहूणं ।

संजमहीणो य तवो जइ चरइ णिरत्थयं सन्व ॥४६८॥

चरित्रहीन ज्ञान, सम्यग्दर्शन विहीन मुनिवेश और संयम विहीन तप का आचरण करना निर्थक होता है ।

णाणं चरितसुद्धं लिंगग्रहणं च दंसणविसुद्धं ।

संजमसहिदो य तवो थोओ वि महाफलो होइ ॥४६९॥

अगर चारित्र से विशुद्ध ज्ञान, दर्शन से विशुद्ध मुनिवेश और संयम से विशुद्ध तप का थोड़ा भी आचरण किया जाता है तो उसका महान फल होता है ।

णाणं णाऊण णरा कई विसयाइभावसंसता ।

हिंडंति चादुरगदिं विसएसु विमोहिया मूढ़ा ॥४७०॥

ज्ञान को जानकर (प्राप्त करके) भी कुछ व्यक्ति विषयभावों में आसक्त बने रहते हैं । विषयों में आसक्त वे मूढ़ चतुर्गति रूप संसार में ही भटकते रहते हैं ।

जे पुण विसयविरता णाणं णाऊण भावणासहिदा ।

छिंडंति चादुरगदिं तवगुणजुत्ता ण संदेहो ॥४७१॥

विषयों से विरक्त और तप तथा गुणों से युक्त जो व्यक्ति ज्ञान को भी प्राप्त कर लेते हैं और उसे बार-बार अपने अनुभव में लेते हुए अपने भाव का विषय बना लेते हैं वे असन्दिग्ध रूप से चतुर्गति रूप संसार का छेदन करते हैं ।

जह कंचणं विसुद्धं धम्मझयं खडियलवणलेवेण ।

तह जीवो वि विसुद्ध णाणविसलिलेण विमलेण ॥४७२॥

जैसे नमक और सुहागे के लेप से सोना शुद्ध होता है वैसे ही जीव भी ज्ञान रूपी निर्मल जल से शुद्ध होता है ।

णाणस्स णत्थि दोसो कुप्पुरिसाणं वि मंदबुद्धीणं ।

जे णाणगव्विदा होऊणं विसएसु रज्जंति ॥४७३॥

अगर कोई व्यक्ति ज्ञान से गर्वित होकर भी विषयों में रमता है तो इसमें ज्ञान का दोष नहीं है। उस मूर्ख कुपुरुष का ही दोष है।

णाणेण दंसणेण य तवेण चरिएण सम्मसहिएण ।

होहदिं परिणिव्वाणं जीवाण चरित्तसुद्धाणं ॥४७४॥

ज्ञान, दर्शन और तप को सम्यक्तत्व के साथ चारित्र में ढाला जाय तो ऐसे चारित्र से शुद्ध हुए जीवों को निर्वाण की प्राप्ति होती है।

सीलं रक्खंताणं दंसणसुद्धाण दिठचरित्ताणं ।

अत्थि धुवं णिव्वाणं विसएसु विरत्तचित्ताणं ॥४७५॥

जिन व्यक्तियों का चित्त विषयों से विरक्त है, जो शील की रक्षा करते हैं और दर्शन से शुद्ध तथा चारित्र से दृढ़ हैं वे निश्चित रूप से निर्वाण को प्राप्त करते हैं।

विसएसु मोहिदाणं कहियं मग्गं पि इडुदरिसीणं ।

उम्मग्गं दरिसीणं णाणं पि णिरत्थयं तेसिं ॥४७६॥

विषयों में आसक्त व्यक्ति अगर सन्मार्ग दिखाने वाले हों तो उनके लिए फिर भी रास्ता है, फिर भी उनकी सार्थकता है। लेकिन कुमार्ग दिखाने वालों के लिए तो ज्ञानी होने का कोई अर्थ ही नहीं है।

कुमयकुसुदपसंसा जाणंता बहुविहाइं सत्थाइं ।

शीलवदणाणरहिदा ण हु ते आराधया होंति ॥४७७॥

कुमत और कुशास्त्रों के प्रशंसक भले ही बहुत प्रकार के शास्त्रों को जानते हों लेकिन वास्तव में वे शीलब्रत और ज्ञान से रहित हैं। वे शीलब्रत और ज्ञान के आराधक नहीं हैं।

रूवसिरिगव्विदाणं जुव्वणालावणकंतिकलिदाणं ।

सीलगुणवज्जिदाणं णिरत्थयं माणुसं जम्म ॥४७८॥

व्यक्ति भले ही रूप, शोभा, यौवन, लावण्य और कान्ति से मण्डित हो लेकिन अगर शीलगुण से रहित है तो उसका मनुष्य जन्म लेना निर्धक है।

वायरणछंदवइसेसियववहारणायसत्थेसु ।

वेदेऊण सुदेसु य तेसु सुयं उतमं शीलं ॥४७९॥

व्याकरण, छन्द, वैशेषिक, व्यवहार शास्त्र, न्यायशास्त्र और यहाँ तक कि जिनागम के ज्ञान से भी शील बड़ा है।

सीलगुणमंडिदाणं देवा भवियाण वल्लुहा होंति ।

सुदपारयपउरा णं दुस्सीला अप्पिला लोए ॥४८०॥

शील गुण से शोभित भव्य जीव देवताओं को भी प्रिय होते हैं। इसके विपरीत शास्त्रों में पारंगत लेकिन शील से रहित व्यक्ति लोक में भी न्यून बने रहते हैं। अर्थात् वे मनुष्यों के भी प्रिय नहीं होते।

सव्वेविय परिहीणा रूबविरूवा वि पडिदसुवया वि ।

सीलं जेसु सुसीलं सुजीविदं माणुसं तेसिं ॥४८१॥

जो व्यक्ति सब प्राणियों में हीन हैं, सौन्दर्य में भी गए गुज़रे हैं और जिनकी उम्र भी अतिशय ढलान पर है लेकिन अगर उनका शील उत्तम है तो वे जीवन्त हैं। उनका मनुष्य जीवन सार्थक है।

जीवदया दम सच्चं अचोरियं बंभचेरसंतोसे ।  
सम्पदंसण णाणं तओ य सीलस्स परिवारो ॥४८२॥

जीव दया, इन्द्रियनिग्रह, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, सन्तोष, सम्यग्दर्शन, ज्ञान और तप-यह शील का परिवार है।

सीलं तवो विसुद्धं दंसणसुद्धी य णाणसुद्धी य ।  
सीलं विसयाण अरी सीलं मोक्खस्स सोवाणं ॥४८३॥

शील ही तप की निर्मलता है, शील ही दर्शन की शुद्धता है, शील ही ज्ञान की विशुद्धता है, शील ही इन्द्रिय विषयों का शत्रु है और शील ही मोक्ष की सीढ़ी है।

जह विसयलुद्ध विसदो तह थावरजंगमाण घोराणं ।  
सब्बेसिं पि विणासदि विसयविसं दारूणं होई ॥४८४॥

जैसे विषयलुब्ध जीव को विषय रूपी विष नष्ट करता है वैसे ही तमाम बड़े-बड़े स्थावर जंगम अस्तित्वों को भी विष ही नष्ट करता है। लेकिन सभी विषों में सबसे दारूण विषय रूपी विष ही है।

वारि एकम्मि य जम्मे मरिज्ज विसवेयणाहदो जीवो ।  
विसयविसपरिहया णं भमंति संसारकंतारे ॥४८५॥

विष की वेदना से आहत जीव एक जन्म में एक ही बार मरता है। लेकिन विषयविष से मृत जीव को तो संसार रूपी वन में सदैव परिभ्रमण करना पड़ता है। बार बार जन्म लेना और मरना पड़ता है।

णरएसु वेयणाओ तिरिक्खए माणवेसु दुक्खाइं ।  
देवेसु वि दोहगं लहंति विसयासिया जीवा ॥४८६ ॥

विषयों में आसक्त जीव नरकों के कष्ट, तिर्यश्चों और मनुष्यों के दुःख तथा देवों के भी दुर्भाग्यों को झेलने के लिए अभिशप्त होते हैं। वे चारों गतियों में दुःख पाते हैं।

तुसधम्मतबलेण य जह दव्वं ण हि णराण गच्छेदि ।  
तवसीलमत कुसली खवंति विसयं विस व खलं ॥४८७ ॥

जैसे तुषों (भूसी) को उड़ा देने से मनुष्य का कुछ भी मूल्यवान नहीं जाता वैसे ही तपस्वी, शीलवान और कुशल मनुष्य अगर विषयों के विष को तुष की तरह उड़ा दे तो उसका भी कुछ नहीं जाता।

वद्वेसु य खंडेसु य भद्वेसु य विसालेसु अंगेसु ।  
अंगेसु य पप्पेसु य सव्वेसु य उत्तमं सीलं ॥४८८ ॥

जीव को अपनी देह में कई सुघट, वृत्ताकार, कई सुन्दर अर्द्धवृत्ताकार, कई बेहद सरल और कई विशाल चौड़े अंग मिले हैं। लेकिन इन सभी में सबसे उत्तम शील ही है।

पुरिसेण वि सहियाए कुसमयमूढेहि विसयलोलेहिं ।  
संसारे भमिदव्वं अरयघरद्वं व भूदेहिं ॥४८९ ॥

कुसमय (कुमति) से मूढ़ बने हुए विषयलोलुप व्यक्ति संसार में रहट की घड़ियों की तरह खुद तो भ्रमण करते ही हैं दूसरों को भी उनके साथ भ्रमण करना पड़ता है।

आदेहि कम्मगंठी जा बद्धा विसयरागरंगेहिं ।  
तं छिन्दन्ति कयत्था तवसंजमसीलयगुणेण ॥४६० ॥

विषयों के रागरंग से आत्मा में बँधी हुई कर्म की गाँठ को कृतार्थ (श्रेष्ठ) व्यक्ति तप, संयम और शील से प्राप्त हुए गुण के द्वारा खोलते हैं ।

उदधी व रदणभरिदो तवविणयंसीलदाणरयणाणं ।  
सोहेंतो य ससीलो णिव्वाणमणुत्तरं पत्तो ॥४६१ ॥

समुद्र कितना ही रत्नों से भरा हुआ हो, पर वह जल से ही शोभा पाता है । इसी तरह तप, विनय, दान आदि रत्नों से भरी हुई आत्मा शील से ही शोभा पाती है और निर्वाण को, निर्वाण जिससे श्रेष्ठ और कुछ नहीं है, प्राप्त करती है ।

सुणहाण गद्हाण य गोवसुमहिलाण दीसदे मोकखो ।  
जे स्मेधंति चउत्थं पिच्छिज्जंता जणेहि सव्वेहिं ॥४६२ ॥

श्वान, गर्दभ, गाय आदि पशु तथा स्त्री को मोक्ष होता देखा गया है क्या ? वस्तुतः मोक्ष उन्हें ही होता देखा गया है जिन्हें चौथे पुरुषार्थ की तलाश होती है ।

जइ विसयलोलएहिं णाणीहि हविज्ज साहिदो मोकखो ।  
तो सो सच्चइपुतो दसपुव्वीओ वि किं गदो णरयं ॥४६३॥

यदि विषयलोलुप ज्ञानियों को मोक्ष मिलना सम्भव होता तो दस पूर्वजन्मों का ज्ञाता सात्यकि पुत्र (रुद्र) नरक क्यों गया होता ?

जइ णाणेण विसोहो सीलेण विणा बुहेहिं णिद्विष्टो ।  
दसपुव्वियस्स भावो य ण किं पुणु णिम्मलो जादो ॥४६४ ॥

अगर विद्वानों ने शील के बिना कोरे ज्ञान से ही भाव का निर्मल होना बताया होता तो दस पूर्व जन्मों के ज्ञाता रुद्र का भाव क्यों निर्मल नहीं हुआ होता ?

जाए विसयविरतो सो गमयदि णरयवेयणा पउरा ।  
ता लेहदि अरुहपयं भणियं जिणवइढमाणेण ॥४६५॥

जो जीव नरक में होते हुए भी विषयों से विरक्त होता है उसकी नरकवेदना कम हो जाती है और वर्द्धमान जिनेन्द्र भगवान् तो यहाँ तक कहते हैं कि वह नरक से निकलकर तीर्थकर पद भी पा सकता है ।

एवं बहुप्पयारं जिणेहि पच्चकखणाणदरसीहिं ।  
सीलेण य मोक्खपयं अक्खातीदं य लोयणाणेहिं ॥४६६॥

इस प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञान, दर्शन के धनी और लोकालोक के ज्ञाता जिनेन्द्र भगवान् बहुत प्रकार से कहते हैं कि शील से व्यक्ति को मोक्षपद, जो इन्द्रियातीत ज्ञानसुख का भण्डार है, प्राप्त होता है ।

सम्मतणाणदंसणबवीरियपंचयारमप्पाणं ।  
जलणो वि पवणसहिदो डहंति पोरायणं कम्मं ॥४६७॥

सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, तप और वीर्य (शक्ति) से पाँच आचार आत्मा का आश्रय पाकर पुराने कर्मों को ऐसे ही जलाकर भस्म कर देते हैं जैसे आग तेज़ हवा में पुराने ईंधन को जलाकर राख कर देती है ।

णिदइढअड्कम्मा विसयविरता जिदिंदिया धीरा ।  
तवविणयसीलसहिदा सिद्धा सिद्धिं गदिं पत्ता ॥४६८॥

आठ कर्मों को जला चुकने वाले, विषयों से विरक्त, जितेन्द्रिय, धैर्यशाली और तप, विनय, शील के धनी जीव तो मोक्ष को प्राप्त कर चुके सिद्ध हैं ।

लावण्णसीलकुसलो जम्ममहीरुहो जस्स सवणस्स ।

सो सीलो स महप्पा भमिज्ज गुणवित्थरं भविए ॥४६६ ॥

जिस मुनि के जन्म रूपी वृक्ष को लावण्य और शील ने कुशल बना दिया है वह शीलवान और महात्मा है। उसके गुणों का विस्तार पूरे संसार में होता है।

णाणं झाणं जोगो दंसणसुद्धीय वीरियायतं ।

सम्मतदंसणेण य लहंति जिणसासणे बोहिं ॥५००॥

ज्ञान, ध्यान, योग और दर्शन की शुद्धता तो शक्ति पर निर्भर है। लेकिन जिन शासन के अनुसार बोधि अर्थात् रत्नत्रय की प्राप्ति तो सम्यग्दर्शन से हो जाती है।

जिणवयणगहिदसारा विसयविरता तावोधणा धीरा ।

सीलसलिलेण छ्हादा ते सिद्धालयसुहं जंति ॥५०१॥

जिनेन्द्र भगवान् के वचनों के सार को हृदयंगम करने वाले, विषयों से विरक्त, तपोधन और धैर्यशाली मुनि शील के जल में स्नान करके ही सिद्धालय (सिद्धों का निवास स्थल) का सुख प्राप्त करते हैं।

सञ्चगुणखीणकम्मा सुहदुक्खविवज्जिदा मणविसुद्धा ।

पप्फोडियकम्मरया हवंति आराहणापयडा ॥५०२॥

समस्त गुणों (मूल गुण और उत्तर गुण) की सहायता से कर्मों का क्षय करना, सुख दुःख से परे होने की स्थिति, विशुद्ध मन की प्राप्ति और कर्मों की धूल उड़ा देना- यह आराधना का सम्पूर्णता में प्रकट होता है।

अरहंते सुहभत्ती सम्मतं दंसणेण सुविसुद्धं ।

सीलं विसयविरागो णाणं पुण केरिसं भणियं ॥५०३॥

अरिहन्त के प्रति शुभ भक्ति ही दर्शन से विशुद्ध सम्यक्त्व है। विषयों से विरक्त होना ही शील है। वही ज्ञान भी है। अन्यथा ज्ञान और किसे कहते हैं ?

## विशेष शब्द

**अनन्त चतुष्टय** : केवली में केवल ज्ञान, केवल दर्शन, केवल सुख और केवल शक्ति की अनन्तता के कारण इन चारों को अनन्त चतुष्टय कहकर संकेतित किया जाता है।

**अरिहन्त के एक हजार आठ लक्षण** : श्री वृक्ष, शंख, कमल, स्वस्तिक, अंकुश, तोरण, चमर, सफेद छत्र, सिंहासन, पताका, दो मीन, दो कुम्भ, कच्छप, चक्र, समुद्र, सरोवर, विमान, भवन, हाथी, सूर्य, चन्द्र फल सहित उपवन, पृथ्वी, लक्ष्मी, सरस्वती, स्वर्ण, कल्पलता, आठ प्रातिहार्य, आठ मंगल द्रव्य आदि एक सौ आठ लक्षण और मसूरिया आदि नौ सौ व्यंजन इस प्रकार कुल १००८ लक्षण अरिहन्त के शरीर में विद्यमान होते हैं।

**आठ प्रातिहार्य** : अशोक वृक्ष, तीन छत्र, रत्नखचित सिंहासन, भक्तियुक्त गणों से वेष्टित होना, दुन्दुभिनाद, पुष्पवृष्टि, भामण्डल (प्रभामण्डल) और चौंसठ चमर युक्तता।

**आठ प्रकार के कर्म** : ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनीय, अन्तराय और वेदनीय, आयु, नाम, तथा गोत्र।

**आरम्भ** : नौकरी, खेती, व्यापार आदि सावधा कर्म।

**आहार के छियालीस दोष** : उद्गम, उत्पादन, अशन, प्रमाण, संयोजन, अंगार अथवा आगार और धूम के तहत उद्गम दोष के औदूदेशिक आदि सोलह, उत्पादन दोष के धात्री आदि सोलह, अशन दोष के शंकित आदि दस भेद और प्रमाण, संयोजन (ठण्डे भोजन में गरम जल या गरम भोजन में ठण्डा जल मिलाना) अंगार (तृष्णापूर्वक आहार करना) तथा धूम (ग्लानिपूर्वक आहार करना) ये चार दोष।

**ईर्या समिति** : दिन में चार हाथ प्रमाण देखकर इस प्रकार चलना ताकि प्राणियों को पीड़ा न पहुँचे।

**उपगूहन** : शुद्ध मोक्ष मार्ग का पथिक भी अज्ञान अथवा असमर्थतावश

कोई भूल कर सकता है। उसकी भूल को, उसकी दोषदृष्टि को दूर करना।

**गारव (गौरव)** के तीन प्रकार : शब्द गारव (वर्ण के उच्चारण का गर्व), वृद्धि गारव (शिष्य, पुस्तक, कमण्डल, पिच्छी आदि के बल पर अपने को ऊँचा समझना/ऊँचा प्रकट करना) और सात गारव (भोजन, पान आदि से उत्पन्न सुख में मस्त होकर मोह मद से ग्रस्त रहना)

**चार गतियाँ** : देव, मनुष्य, तिर्यच और नकरगति।

**चार प्रकार का बाह्य मुनित्व** : १. अचेलकत्व २. सिर और दाढ़ी, मूँछे के बालों का लोंच, ३. शरीर संस्कार का त्याग ४. मयूर पिच्छिका रखना।

**चार शरण** : अरिहन्त, सिद्ध, साधु और केवली प्रणीत धर्म।

**चौदह गुणस्थान** : मोह और मन, वचन, काय की प्रवृत्ति के कारण जीव के अन्तरंग परिणामों में प्रतिक्षण होने वाले उतार चढ़ाव को गुणस्थान कहा गया है। इनकी चौदह श्रेणियाँ मानी गई हैं मिथ्या दृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्या दृष्टि यानी मिश्र, असंयत अथवा अविरत सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत अथवा देशविरत, प्रमत्त संयत अथवा प्रमत्तविरत, अप्रमत्त क्षमता, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्म साम्पराय, उपशान्त कषाय, क्षीण कषाय, सयोग केवली, अयोग केवली।

**चौदह जीव समास** : जिन गुणों / भावों में जीव रहते हैं उन्हें जीव समास कहते हैं। इनके कई प्रकार से कई भेद हैं। स्थावर जीवों के वादर—सूक्ष्म के आधार पर दस और त्रिस जीवों के दो, तीन, चार, पाँच इन्द्रिय ये चार भेद/ इस प्रकार कुल चौदह भेद।

**चौंतीस अतिशय** : जिनेन्द्र भगवान के चौंतीस अतिशयों में से दस तो उनके जन्म से ही होते हैं-

१. निस्वेदता २ निर्मलता ३ श्वेत रुधिरता ४ समचतुरस्स संस्थान ५ वज्र वृषभ नाराच संहनन ६ सुरूपता ७ सुगन्धितता ८ सुलक्षणता ९ अतुलवीर्य १० हितमित वचन।

ग्यारह अतिशय घाति कर्मों के क्षय होने पर होते हैं-

१. शतयोजन सुभिक्षता, २. आकाशगमन, ३. प्राणिवध अभाव, ४. कवलाहार अभाव, ५. उपसर्ग अभाव, ६. चतुर्मुखत्व, ७. सर्वविद्याप्रभुत्व, ८. छायारहितत्व, ९. लोचन निस्पन्दन रहितत्व, १०. केशनखवृद्धि रहितत्व, ११. अठारह महाभाषाओं से युक्त दिव्य ध्वनि ।

१. सर्वजीव मैत्रीभाव, २. सर्वऋतु फल पुष्प, ३. पृथ्वी का दर्पणवत् होना, ४. मंद सुगन्धित हवा का चलना, ५. सम्पूर्ण संसार में आनन्द का संचार, ६. भूमि का कंटकादि से रहित होना, ७. देवों द्वारा गन्धोदक वर्षा, ८. विहार के समय देवों द्वारा चरणकमलों के नीचे स्वर्णकमलों की रचना, ९. भूमि का धनधान्य निष्पत्ति सहित होना, १०. दिशाओं और आकाश का निर्मल होना, ११. देवों का आह्वान शब्द होना, १२. धर्मचक्र का आगे चलना, १३. अष्ट मंगल द्रव्यों का होना ।

**छह संहनन वाले जीव :** हड्डियों के बन्धन को, उनके संचय और जोड़ को संहनन कहते हैं। इसके आधार पर जीवों के छह भेद माने गए हैं- वज्रवृषभ नाराच, वज्रनाराच, सनाराच, अर्द्धनाराच, कीलक शरीर संहनन और असम्प्राप्ता सृपाटिका ।

**छह द्रव्य :** जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ।

**छह अनायतन :** मिथ्या देव, मिथ्या देवों के सेवक, मिथ्या तप, मिथ्या तपस्वी, मिथ्या शास्त्र और मिथ्या शास्त्रों के धारक ।

**तीन गुप्तियाँ :** संसार के कारणों से आत्मा की रक्षा करने वाली मन, वचन और काय की गुप्ति ।

**तेरह प्रकार की क्रियाएं :** पंच परमेष्ठी को नमस्कार की पाँच क्रियाएं, छह आवश्यक क्रियाएं, एक निषिधिका (जिन मन्दिर में प्रवेश के वक्त आज्ञार्थ निःसही शब्द तीन बार बोलना अथवा सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्र में स्थिर रहने के लिए निःसही कहना) क्रिया और एक आसिका (जिन मन्दिर से बाहर आते वक्त विदा के लिए अनुमति हेतु, विनयपूर्वक आसिका शब्द बोलना अथवा पापों से मन मोड़ने को आसिका कहना) क्रिया । इस प्रकार कुल तेरह क्रियाएं ।

**दस प्रकार के अब्रह्म :** १. स्त्री सम्बन्धी विषयों की अभिलाषा, २. वत्थिमोक्खो अर्थात् इन्द्रिय में विकार होना, ३. पौष्टिक आहार, ४. स्त्री स्पर्श अथवा उसकी शैया आदि का सम्पर्क, ५. स्त्री के सुन्दर शरीर का अवलोकन, ६. स्त्री सत्कार, ७. स्त्री सम्मान, ८. अतीत के भोगों का स्मरण, ९. अनागत अभिलाष (भविष्य की इच्छाएं), १०. इष्ट विषय सेवन (मनोवांछित सौध, उद्यान आदि का उपयोग करना)।

**नौ पदार्थ :** जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष।

**नौ प्रकार के ब्रह्मचर्य :** जो मुनि स्त्री संग का त्याग करता है उसी के मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदन के भेद से नौ प्रकार का ब्रह्मचर्य।

**नौ नोकषाय :** हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसक वेद।

**पाँच अस्तिकाय :** काल को छोड़कर शेष पाँच द्रव्य। ये पाँच ही अधिक प्रमाण के होने के कारण कायवान हैं।

**पाँच महाब्रत :** अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य।

**पाँच महाब्रतों की पच्चीस भावनाएं :**

**अहिंसा महाब्रत की पाँच भावनाएं :** वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति, आदान निक्षेपण समिति और अवलोकित भोजनपान (देख शोध कर भोजनपान ग्रहण करना)।

**सत्य महाब्रत की पाँच भावनाएं :** क्रोध प्रत्याख्यान, लोभ-प्रत्याख्यान, भीरुत्व प्रत्याख्यान, हास्य प्रत्याख्यान और अनुवीची भाषण।

**अस्तेय महाब्रत की पाँच भावनाएं :** वस्तु को उसके स्वामी की अनुज्ञा के बिना ग्रहण न करना, अनुज्ञा से गृहीत में भी आसक्ति नहीं रखना, प्रयोजन बताते हुए वस्तु माँगना, यह भावना न होना कि देने वाला दे रहा है तो सब की सब ले लूँ और ज्ञान चारित्र के लिए उपयोगी वस्तु ही ग्रहण करना।

**अपरिग्रह महाब्रत की पाँच भावनाएं :** शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन पाँच विषयों में रागद्रेष का न होना।

**ब्रह्मचर्य महाब्रत की पाँच भावनाएं :** स्त्रियों के अंग देखने का त्याग, पूर्व भोगों को याद न करना, स्त्रियाँ जहाँ रहती हों वहाँ न रहना, शृंगार कथा कहने/करने/सुनने का त्याग और पौष्टिक भोजन करने का त्याग।

**पाँच समितियाँ :** ईर्या, भाषा, एषणा, आदान निक्षेपण और प्रतिष्ठापन।

**पाँच प्रकार का विनय :** लोकानुवृत्ति, अर्थनिमित्तक, कामतंत्र, भय और मोक्षविनय।

**अथवा**

ज्ञान विनय, दर्शन विनय, चारित्र विनय, तप विनय और उपचार विनय।

**उपचार विनय के तहत-**

मुनि को आता देख आसन से उठना, कायोत्सर्ग आदि कृतिकर्म करना, जुड़े हाथों को अपने माथे पर रखकर नमन करना, उनके सामने जाना, अनुकूल वचन कहना।

**बाईस परिषह :** मार्ग से व्युत न होने और कर्मों की निर्जरा के लिए जिन्हें सहन करना होता है उन्हें परिषह कहते हैं। क्षुधा, तृष्णा, शीत, उष्ण, मशक दंश, नमनता, अरति, स्त्री, चर्या, निषधा, शैया, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन।

**बारह प्रकार के तप :** अनशन, अवमौदार्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शैयासन, कायक्लेश, ये छह बाह्य तप। और

**प्रायश्चित, विनय, वैयावृच्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग, ध्यान-ये छह आभ्यन्तर तप।**

**बारह अनुप्रेक्षाएं :** अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्त्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म।

**मार्गणा स्थान :** मार्गणा का अर्थ है अन्वेषण/खोजना/गवेषणा जिनके द्वारा चौदह गुणस्थानों का अन्वेषण किया जाता है उन्हें मार्गणा कहते हैं। इनकी संख्या भी चौदह है-गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, दर्शन, संयम, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञी और आहारक।

**रक्षण** : धर्मात्मा को धर्म से डिगता देखकर उसे धर्म में स्थिरं करना।  
स्थितिकरण।

**वस्त्र के पाँच प्रकार** : अण्डज अर्थात् रेशम से बना, बोंडुज अर्थात् कपास से बना, रोमज अर्थात् ऊन से बना, वल्कलज अर्थात् वृक्ष की छाल से बना और चर्मज अर्थात् पशुओं के चर्म से बना।

**वैयावृत्त्य के दस भेद** : आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष (शिष्य), ग्लान (रोगी), गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ इनकी वैयावृत्ति के भेद से वैयावृत्त्य (गुणी व्यक्ति के दुःख में उसकी सेवा करना) के दस भेद।

**षट्काय जीव** : स्थावर जीवों के पाँच (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति काय प्रकार) तथा त्रस जीव। इस प्रकार काया की दृष्टि से षट्काय जीव।

**सात तत्त्व** : जीव, अजीव, आस्त्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष।

# गाथानुक्रमणिका

गाथा : आरम्भिक शब्द	गाथा क्र.	गाथा : आरम्भिक शब्द	गाथा क्र.
<b>अ</b>		<b>इ</b>	
अइसोहणजोएणं	३५७	आदा खु मज्ज णाणे-	२२८
अकखाणि बाहिरपा	३४०	आदेहि कम्मगंठी -	४६०
अच्चेयणं पि चेदा	३६३	आयदणं चेदिहरं	१११
अज्ज वि तिरियणसुद्धा	४१२	आरूहवि अंतरपा -	३४२
अण्णाणं मिच्छतं	७८	आहारभयपरिग्गह -	२८२
अण्णं व वसिङ्ग मुणि	२१६	आहारोय सरीरो	१४२
अण्णे कुमरणमरण	२०२	आसवहेदूय तहा	३६०
अपरिग्गह समणुण्णेसु	११		
अप्पा अप्पम्मि रओ	२०१	इच्छायार महत्थं	५०
अप्पा अप्पम्मि रओ	२५५	इङ्गिमतुलं विउव्विय	३००
अप्पा चरित्तवंतो	३६६	इय धाइकम्ममुक्को	३२२
अप्पा झायंताणं	४०५	इय उवएस सारं	३७५
अप्पा णाऊण णरा	४०२	इय जाणिऊण जोई-	३६७
अमुण्णे य मणुण्णे	६२	इय णाऊं गुणदोसं -	३१७
अमराण वंदियाण	२५	इय णाऊण खमागुण-	२७६
अयसाण भायणेण य	२३६	इय तिरिय मण्युजम्मे-	१६७
अरसमरूवमगंध	२३४	इय भावपाहुडमिणं-	३३५
अरहंतभासियत्थ	३७	इय मिच्छतावासे -	३११
अरहंतेण सुदिङ्ग	११२	इय लिंगपाहुडमिणं -	४६३
अरहंते सुहभत्ती	५०३	इरियामासाएसण-	१००
अरूहा सिद्धायरिया	४३६		
अवरो वि दव्वसवणो	२२०	उकिङ्गसीहचरिय -	४५
अवसेसा जे लिंगी	४६	उगतवेणण्णाणी-	३८८
असियसय किरियवाई	३०७	उच्छाहभावणा-	७६
असुईवीहत्थेहि य	१८७	उच्छाहभावणा-	७७
अस्मजदं ण वंदे -	२६	उत्तममज्जिमगेहे-	१५६
अह पुण अप्पा णिच्छदि	५१	उत्थरइ जा ण जरओ-	३०२
अह पुण अप्पा णिच्छदि	२५६	उद्धद्धमज्जलोये	४१६
<b>आ</b>		<b>उ</b>	
आगंतुक माणसियं	१८१	उदधी व रदणभरिदो-	४६१
आदसहावादणं	३५२	उप्पडदि पडदि धावदि -	४५६
		उवसग्गपरिसहसहा-	१६३

गाथा : आरम्भिक शब्द	गाथा क्र.	गाथा : आरम्भिक शब्द	गाथा क्र.
उवसमखमदमजुत्ता -	१६०	कोहभयहासलोहा-	६६
ए		कंदप्पमाइयाओ-	१८३
एएण कारणेण य -	५२	कंदप्पाइय वट्टइ-	४५३
एएण कारणेण य -	२५७	कंदं मूलं बीयं -	२७३
एए तिणि वि भावा-	६७	ख	
एए तिणि वि भावा-	८२	खणणुत्तावणवालण-	१८०
एएहिं लक्खणेहिं य-	७५	खयरामरमण्यकर-	२४५
एकेकंगुलिवाही-	२०७	ग	
एगो मे सरस्दो अप्पा-	२२६	गइ इंदियं च काये-	१४१
एगं जिणस्सरूवं -	१८	गसियाइं पुणलाइं-	१६२
एरिसगुणेहिं सव्वं-	१४७	गहिउज्जियाइं मुणिवर-	१६४
एवं आयत्तणगुण-	१६७	गहिऊण य सम्मतं-	४२१
एवं चिय णाऊण य-	६४	गाहेण अप्पगाहा -	६३
एवं जिणपण्णतं-	२१	गिणहदि अदत्तदाणं-	४५५
एवं जिणपण्णतं -	४४१	गिहगंथमोहमुक्का-	१५३
एवं जिणेहि कहियं-	४२०	गुणगणमणिमालाए-	३३०
एवं बहुप्पयारं -	४६६	गुणगणविहूसियंगो-	४३७
एवं साहिओ मुणिवर-	४६०	गुणाठाणमगणेहिं य-	१३६
एवं सावयधम्मं -	६०	च	
एवं संखेवेण य-	१०७	चउविहविकहासत्तो-	१८६
क		चउसड्हिचमरसहिओ-	२६
कत्ता भोइ अमुत्तो-	३१८	चक्कहररामकेसव-	३३१
कलहं वाद जूआ-	४४७	चरणं हवइ सधम्मो-	३८५
कल्लाणापरम्परया-	३३	चरियावरिया वदसमिदि-	४०८
काऊण णमुक्कारं -	१	चारित्तसमारूढो -	१०६
काऊण णमोकार -	४४२	चित्तासोहि ण तेसि-	६२
कालमणंतं जीवी-	२०४	चेइय बधं मोक्ख-	११७
किं पुण गच्छइ मोहं-	३०१	चोराण लाउराण य-	४५१
कि बहुणा भणिएं -	४२३	छ	
कुच्छियदेव धम्मं-	४२७	छज्जीव छडायदण-	३०३
कुच्छियधम्ममि रओ-	३१०	छत्तीस तिणि सया-	१६८
कुमयकुसुदपसंसा-	४७७	छह दब्ब णव पयत्था-	१६
केवलिजिणपण्णतं -	२२२	छायालदोसदूसिय-	२७१

गाथा : आरम्भिक शब्द	गाथा क्र.	गाथा : आरम्भिक शब्द	गाथा क्र.
<b>ज</b>			
जइ णाणेण विसोहो -	४६४	जिणमुदं सिद्धिसुहं -	३८२
जइ दंसणेण सुद्धा-	६१	जिणवयणमोसहमिण-	१७
जइ विसयलोलएहि-	४६३	जिणिवयणगहिसदसारा-	५०१
जरवाहि जम्मरणं-	१३८	जिणवरचरणंबुरुहं -	३२३
जरवाहि दुक्खरहिय-	१४५	जिणवरमएण जोई-	३५५
जलथलसिहिपवणंबर-	१६१	जीवविमुक्तो सबओ-	३१३
जस्सपरिग्गहगहणं-	५५	जीवाजीवविभत्ती-	१०२
जदि पढदि बहू-	४३५	जीवाजीवविहत्ती-	३७६
जह कंचणं विशुद्ध-	४७२	जीवाणमभयदाणं-	३०६
जहजायरूवरूवं -	४२६	जीवादीसद्धणं -	२०
जहजायरूवसरिसा-	१५६	जीवो जिणपण्णत्तो-	२३२
जहजायरूवसरिसो-	५४	जीवदया दम सच्चं-	४८२
जह ण वि लहदि हु लक्खं-	१२६	जे के वि दब्बसवणा-	२६२
जह तारयाण चंदो-	३१४	जे झायंति सदब्बं-	३५४
जह तारायणसहियं-	३१६	जे णरागो परे दब्बे-	४०६
जह दीवो गब्भहरे-	२६३	जे दंसणेसु भट्ठा णाणे-	८
जहपत्थरो ण भिजइ-	२६५	जे दंसणेसु भट्ठा पाए-	१२
जह फणिराओ सोहइ-	३१५	जे पावमोहियमई-	४१३
जह फलिहमणि विसुद्धो -	३८६	जे वि पडंति य त्तेसिं -	१३
जह फुलं गंधमयं-	१२३	जे पुण विसयविरत्ता-	४०३
जह मूलम्मि विणट्टे-	१०	जे पुण विसयविरत्ता-	४७१
जह मूलाओ खंघो-	११	जे पंचचेलसत्ता-	४१४
जह रहणाणं पवरं-	२५२	जे रायसंगजुत्ता-	२४२
जह विसयलुल्द विसदो-	४८४	जे बावीसपरीषह-	४८
जब बीयम्मि य दड्हे-	२६६	जेसिं जीवसहावो-	२३३
जह सलिलेण ण लिप्पइ-	३२४	जो इच्छइ णिस्सरिहुं-	३६१
जाए विसय विरत्तो-	४६५	जो कम्मजादमइओ-	३६१
जाणहि भावं पढम-	१७६	जो कोडिए ण जिप्पइ-	३५७
जाव ण भावइ तच्चं -	२८५	जो को वि धम्मसीलो-	८
जिणणाणदिड्डिसुद्धं-	६८	जो जाइ जोयणसयं-	३५६
जिणबिंबं णाणमयं -	१२४	जो जीवो भवतो -	२३१
जिणमग्गे पव्वज्ञा-	१६२	जो जोडेदि विवाहं-	४५०
		जो देहे णिरवेक्खो-	३४७

गाथा : आरम्भिक शब्द	गाथा क्र.	गाथा : आरम्भिक शब्द	गाथा क्र.
जो पावमोहिदमदी-	४४४	णाणमयं अप्पाणं-	३३६
जो पुण परदव्वरओ-	३५०	णाणम्मि दंसणम्मि य-	३२
जो रयणत्तयजुत्तो-	३७८	णाणस्स णत्थि दोसो-	४७३
सो सुत्तो ववहारे-	३६६	णाणावरणदीहिं-	२८९
जो संजमेसु सहिओ-	४७	णाणी सिवपरमेष्ठी-	३२१
जं किंचि कयं दोसं-	२७६	णाणेण दंसणेण य-	३०
जं चरदि शुद्ध चरणं-	११६	णाणेण दंसणेण य-	४७४
जं जाणइ तं णाणं-	६६	णाणं चरित्तसुद्ध-	४६६
जं जाणइ तं णाण-	३७२	णाणं चरित्तहीणं-	४६८
जं जाणिऊण जोई-	३३८	णाणं चरित्तहीणं-	३६२
जं जाणिऊण जोई-	३७७	णाणं झाणं जोगो-	५००
जं णिम्मलं सुधम्मं-	१३५	णाणं णरस्स सारो-	३१
जं मया दिस्सदे रूवं-	३६४	णाणं णाऊण णरा-	४७०
जं सक्रइ तं कीरइ-	२२	णाणं दंसण सम्मं-	६५
ज सुत्तं जिणउत्तं -	४२	णाणं पुरिसस्त हवदि-	१३०
झ			
झायहि धम्मं सुक्रं-	२६१	णामे ठवणे हि य संदव्वे-	१३६
झायहि पंच वि गुरवे-	२६४	णिगंथमोहमुक्का-	४१५
ण			
णगत्तणं अकज्ज २२५		णिगंथा णिस्संगा-	१५७
णगो पावइ दुकखं-	२३८	णिच्चेल पाणिपत्तं-	४६
णच्चदि गायदि तावं-	४४५	णिच्छयणयस्स एवं	४१८
णमिऊण जिणवरिदे-	१७१	सिणेहा णिल्लोहा-	१५८
णमिऊण य तं देवं-	३३७	णिंदाए य पसंसाए-	४०७
ण मुयइ पयडि अभव्वो -	३०८	णियदेहसरिच्छं -	३४४
णरएसु वेयणाओ-	४८६	णियसत्तीए महाजस-	२७५
णवणोकसायवगं-	२६१	णिरूवममचलमखोहा-	१२१
णवविहबभ पयडहि -	२६८	णिस्संकिय णिकंखिय-	७०
णविएहिं ज णविज्जइ-	४३८	णिद्वङ्गुअठकम्मा -	४६८
णवि देहो वंदिज्जइ-	२७	त	
ण वि सिज्जदि वत्थधरो-	५६	तच्चरुई सम्मतं -	३७३
णाणगुणेहिं विहीणा-	१०५	तवरहियं जं णाणं-	३६४
णाणमय विमलसीयल	२६५	तववयगुणेहिं सुद्धो-	१२६
		तववयगुणेहिं सुद्धा-	१६६
		तव्विवरीओ बंधइ-	२८८

गाथा : आरम्भिक शब्द	गाथा क्र.	गाथा : आरम्भिक शब्द	गाथा क्र.
तस्स य करह पणामं-	१२५	दुक्खे णज्जइ अप्पा-	४००
ताम ण णज्जइ अप्पा-	४०१	दुक्खेणज्जादि णाणं-	४६६
ताव ण जाणादि णाणं-	४६७	दुज्जणवयण चडकं-	२७७
तित्थयरगणहराइं-	२६८	दुष्टकम्मरहियं -	३५३
तित्थयरभासियत्थं-	२६२	दुविहं पि.गंथचायं-	१४
तिपयारी सो अप्पा-	३३६	दुविहं संजमचरणं-	८४
तिलतुसमत्तणिमित्तं-	१६३	देव गुरुम्मि य भत्तो-	३८७
तिहितिण्णि धरवि णिच्चं-	३७६	देवगुरुणं भत्ता-	४१७
तिहुयणसलिलं सयलं-	१६३	देवाणगुणविहूई-	१८५
तुसमासं घोसंतो-	२२३	देहादिचत्तसंगो-	२१४
तुस धम्मंत बलेण य-	४८७	देहादिसंगरहिओ-	२२६
तुह मरणे दुक्खेण-	१८६	दंडयणयरं सयल-	२१६
ते धण्णा ताण णमो-	२६६	दसणअणंतणाणं-	१२०
ते धण्णा सुक्यत्था-	४२४	दंसणअणंतणाणे-	१३७
ते धीरवीर पुरिसा-	३२६	दंसणणाणचरित्ते-	२३
ते मे तिहुवमहिया-	३३३	दंसणणाणचरित्ते-	४४६
तेयाला तिण्णि सया-	२०६	दंसणणाणचरित्ते-	४५२
तेरहमे गुणाठाणे-	१४०	दंसणणाणचरित्ते-	४६१
ते रोया वि य सयला-	२०८	दंसणणाणचरित्त-	१०३
ते च्चिय भणामि हं जे-	३२५	दंसणणाणावरण-	३१६
तं चेव गुण विशुद्धं-	७१	दंसणाभट्टाभट्टा -	३
थ		दसणमूलो धम्मो-	२
थूले तसकायवहे-	८७	दंसणवयसामाइय-	८५
द		दंसणसुद्धो सुद्धो-	३७४
दढसंजममुद्धाए-	१२७	दसेइ मोक्खमग्गं-	१२२
दव्वेण सयल णगा-	२३७	ध	
दस दस दोसुपरीसह-	२६४	धणधणवत्थदाणं-	१५४
दस पाणा पञ्जती-	१४६	धणा ते भयवंता-	३२७
दसविहपाणाहारो-	३०४	धम्माम्मि णिप्पवासो-	२४१
दिक्खाकालाईयं-	२८०	धम्मेण होइ लिंगं-	४४३
दियसंगद्वियमसणं-	२१०	धम्मो दयाविसुद्धो-	१३३
दिसिविदिसिमाणपढमं-	८८	धावदि पिंड णिमित्तं-	४५४
दुइयं च उत्त लिंगं-	५७	धुवसिद्धी तित्थयरो-	३६५

गाथा : आरम्भिक शब्द	गाथा क्र.	गाथा : आरम्भिक शब्द	गाथा क्र.
<b>प</b>		<b>पं</b>	
पडिदेससमयपुगल-	२०५	पंचसु महव्वदेसु य-	४१०
पढिएणवि किं कीरइ-	२३६	पचेन्दियसंवरण-	६१
पयडहिं जिणवरलिंगं-	२४०	पंचेव णुव्वयाइं-	८६
पयलियमाणकसाओ-	२४८		
परदब्वर ओ बज्जदि-	३४८	<b>ब</b>	
परदब्वादो दुग्गइ-	३५१	बलसोक्खणाणदंसण-	३२०
परमप्पय झायंतो-	३८३	बहिरत्थे फुरियमणो-	३४३
परमाणुपमाणं वा-	४०४	बहुसत्थ अत्थजाणे-	१०६
परिणामम्मि असुद्धे	१७५	बारसविहतवयरणं-	२५०
पव्वज्ज संगचाए-	७६	बारस अंगवियाणं-	१७०
पव्वज्जहीणगहिणं-	४५६	बारसविहतवजुत्ता-	३६
पसुमहिलसंदसंगं-	१६५	बाहिरसंगच्चाओ-	२५६
पाऊणाणाण सलिलं-	१०४	बाहिरलिंगेण जुदो-	३६६
पीऊण णाणसलिलं -	२६३	बाहिरसयणत्तावण-	२८३
पाओपहंदभावो-	४४८	बाहिरसंगविमुक्तो-	४३२
पाणिवहेहि महाजस-	३०५	बुद्धं जं बोहंतो-	११६
पावं खवइ असेसं -	२७८		
पावंति भावसवणा-	२७०	<b>भ</b>	
पात्रं हवइ असेसं-	२८६	भरहे दुस्समकाले-	४११
पासत्थभावणाओ-	१८४	भव्वजणबोहणत्थं-	१०१
पासंडी तिण्णि सया-	३१२	भवसायरे अणते-	१६०
पित्त तमुतफेफस-	२०६	भावरहिण सपुरिस-	१७७
पीओसि थणच्छीरं-	१८८	भावरहिओ ण सिज्जाइ-	१७४
पुंछलिघरि जो भुंजइ-	४६२	भावविमुत्तो मुत्तो-	२१३
पुरिसायारो अप्पा-	४१६	भावविसुद्धिणिमित्तं-	१७३
पुरिसेण वि सहियाए-	४८६	भावसमणो य धीरो-	२२१
पुरिसोवि जो ससुत्तो-	४०	भावसवणो वि पावइ-	२६७
पूयादिसु वयसहिय-	२५३	भावसहिदो य मुणिणो-	२६६
पंचमहव्वयजुत्ता-	१५२	भावहि अणुवेक्खाओ-	२६६
पंचमहव्वय जुत्तो-	३६८	भावहि पढ़मंतच्चं-	२८४
पंचविहचेलचायं-	२५१	भावहि पंचपयार-	२३५
पंच वि इंदियपाणा-	१४३	भावेण होइ णगो-	२२४
		भावेण होइ णगो-	२४३
		भावेण होइ लिंगी-	२१८
		भावेह भावसुद्धं-	१०८

गाथा : आरम्भिक शब्द	गाथा क्र.	गाथा : आरम्भिक शब्द	गाथा क्र.
भावेह भावसुद्धं-	२३०	रूवसिरिगव्विदाणं-	४७८
भावो वि दिव्वसिवसु-	२४४	रूवत्थं सुद्धत्थ-	१६८
भावो हि पढमलिंगं-	१७२	ल	
भावं तिविहपयारं-	२४६	लद्धूण य मणुयत्तं-	३४
भीसणणरयगई-	१७८	लावण्णसीलकुसलो-	४६६
भंजसु इंदियसेणं-	२६०	लिंगं इत्थीण हवदि-	५८
<b>म</b>		लिंगम्मि य इत्थीणं-	६०
मइधणुहं जस्स थिरं-	१३१	<b>व</b>	
मच्छो वि सालिसिथ्थो-	२५८	वधो पिरओ संतो-	४५७
मणवयणकायदव्वा -	११३	वच्छलुं विणएण-	७४
मणुयभवेपंचिन्दिय-	१४४	वट्टेसु य खडेसुय-	४८८
ममत्ति परिवज्ञामि-	२२७	वंदमितवसावणा-	२८
मयमायकोहरहियो-	३८०	वयगुत्ती मणगुत्ती-	६५
मय राय दोस मोहो-	११४	वयस्म्मत्विसुद्धे-	१३४
मयराय दोषरहियो-	१४८	वर वयतवेहि सग्गो-	३६०
मलरहिओ कलचतो-	३४१	वायरणछंदवइसे-	४७६
महिलालोयणपुव्वर-	६८	वारि एकम्मि य जम्मे-	४८५
महुपिंगो णाम मुणी-	२१५	वालगकोडिमेत -	५३
मायावेल्लि असेसा-	३२८	विणयं पंचपयार-	२७४
मिच्छत्तछण्णदिङ्गी-	३०६	विसएसु मोहिदाणं-	४७६
मिच्छत तह कसाया -	२८७	विरहदि जाव जिणिदो-	३५
मिच्छतं अण्णाणं-	३६३	विवरीयमूढभावा-	१६१
मिच्छादिङ्गी जो सो-	४३०	विसवेयणरत्तकखय-	१६५
मिच्छाणाणेसु रओ-	३४५	वियलिंदए असीदी-	१६६
मिच्छादंसणमग्गे-	८०	विसयविरत्तो समणो-	२४६
मूलगुणं छित्तूण य-	४३३	विसयकसाएहि जुदो-	३८१
मोहमयगारवेहिं-	३२६	वीरंविसालणयणं-	४६४
मंसडिसुक्कसोणिय-	२१२	वेरगापरोसाहू -	४३६
<b>र</b>		<b>स</b>	
रयणत्तयेअलद्धे-	२००	सच्चित्तभत्तपाणं-	२७२
रयणत्तयमाराहं-	३६६	सत्तसु णरयावासे-	१७६
रयणत्तयं पि जोई-	३७१	सत्तूमिते य समा-	१५५
राग करेदि णिच्चं-	४५८	सद्वरओ सवणो-	३४६

गाथा : आरम्भिक शब्द	गाथा क्र.	गाथा : आरम्भिक शब्द	गाथा क्र.
सद्वियारो हूओ-	१६६	सिद्धं जस्स सदत्थं-	११५
सद्हदि य पतेदि य-	२५४	सिवमजरामरलिंग-	३३२
सपरज्जवसाएणं-	३४५	सिसुकाले य अयाणे-	२११
सपरा जगमे दहा-	११८	सीलगुणाम्डिदाणं-	४८०
सपरावेक्ख लिंगं-	४२८	सोलस्स य णाणस्य य-	४८५
सम्मगुण मिच्छ दोसो-	४३१	सीलसहस्रडारस-	२६०
सम्मत चरण भट्ठा	७३	सीलं तवो विसुद्ध-	४८३
सम्मत्तचरण सुद्धा-	७२	सीलं रक्खंताणं-	४७५
सम्मत्तणाण दसण-	४६७	सुण्णाहरे तरुहिङ्गे-	१५०
सम्मत्तणाण दंसण-	६	सुद्धं-सुद्ध सहावं-	२४७
सम्मत्तणाणरहिओ-	४०६	सुणहाण गद्धाण य-	४६२
सम्मत्तरयण भट्ठा-	४	सुण्यायार णिवासो-	६७
सम्मत्विरहिया ण-	५	सुतं हि जारामाणो-	३६
सम्मत सलिलपवहो-	७	सुत्तम्मि जं सुदिङ्गं-	३८
सम्मत्तादो णाणं-	१५	सुरणिलयेसुसुरच्छर-	१८२
सम्मतं जो झायई-	४२२	सुहजोएण सुभावं-	३६८
सम्मतं सण्णाणं-	४४०	सुहेण भाविदं णाणं-	३६७
सम्मदंसण पस्सदि -	८१	सूत्तत्थपयविणडो-	४३
सम्मदंसणि पस्सदि-	१४६	सूत्तत्थं जिणभणियं-	४१
सम्माइङ्गी साक्य-	४२६	सेयासेयविदण्ह-	१६
सम्मूहदि रक्खेदि य-	४४६	सेवहि चउविहलिंगं-	२८१
सयलजणबोहणत्थं-	११०	सो णत्थि तत्पएसो-	२१७
सब्बगुणखीणकम्मा-	५०२	सो णत्थि दब्व सवणो-	२०३
सब्बणहुब्बदसी-	६४	सो देवो जो अत्थं-	१३२
सब्बविरओ वि भावहि-	२६७	संखिज्जमसंखिज्जगुणं-	८३
सवसा सतं तित्थं-	१५१	सगं तवेण सब्बो-	३५८
सब्बासवणिरोहेण-	३६५	संजम संजुत्तस्स य-	१२८
सब्बे कसाय मोत्तं-	३६२	ह	
सब्बे वि य परिहीणा-	४८१	हरिहरतुल्लो वि णरो-	४४
सहजुप्पणं रुवं-	२४	हिमजलणसलिलगुरुयर-	१६६
सामाइयं च पढमं-	८६	हिंसारहिए धम्मे-	४२५
साहंति जं महल्ला-	६४	हिंसाविरइ अहिंसा-	६३
सिद्धो सिद्धो आदा-	३७०	होऊण दिढचरित्तो-	३८४